वर्ष-41
अंक-2
अप्रैल - जून 2020

मंथन

सामाजिक व अकादमिक सक्रियता का उपक्रम

मूल्य 200 रुपए
ISSN 2582-4481

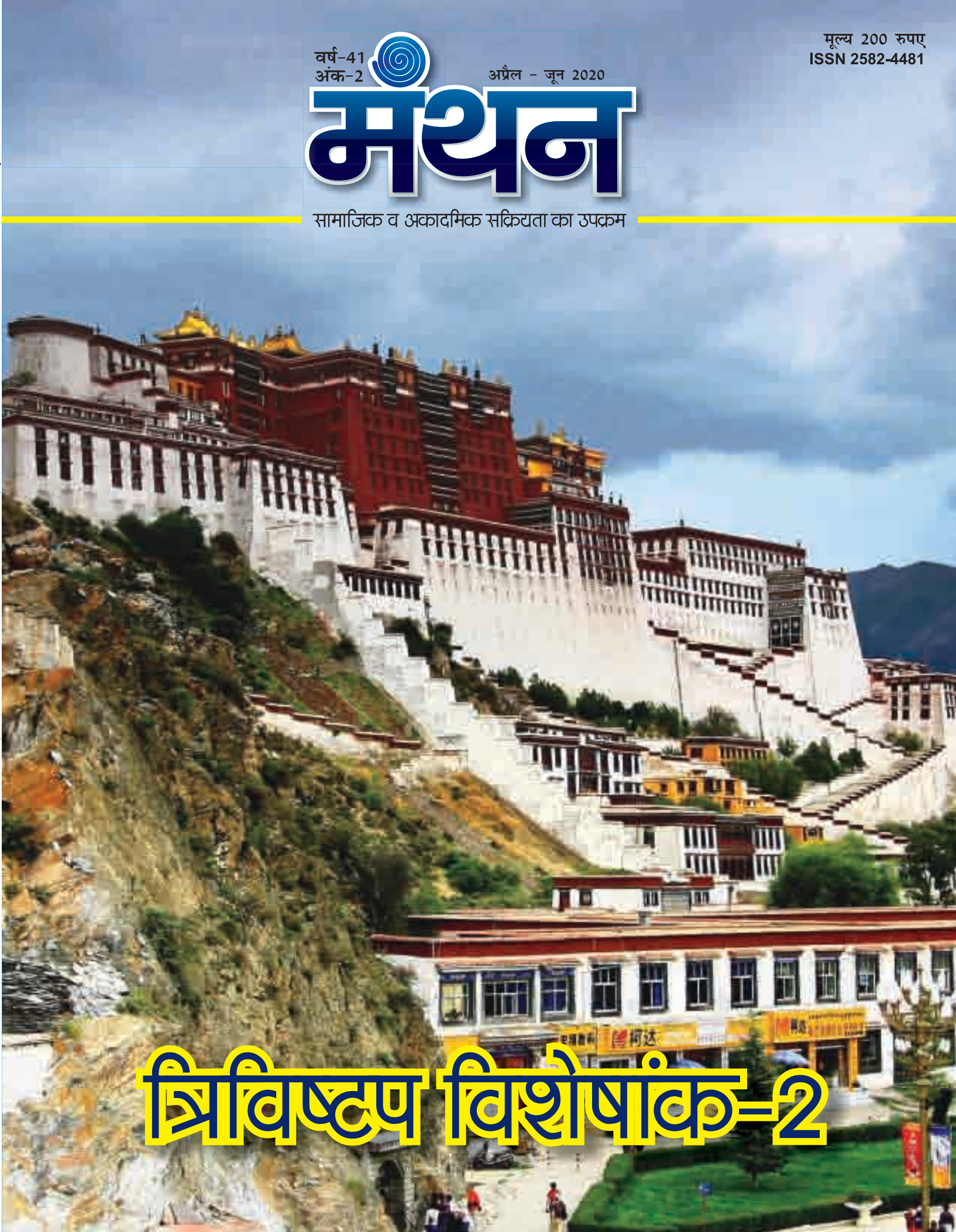

त्रिविष्टप विशेषांक-2

Govt. of Haryana

Mukhya Mantri Parivar Samridhi Yojana

Samridh Parivar - Surakshit Parivar - Sashakt Parivar

Financial Assistance of Rs. 6,000 per annum

to each eligible poor family for availing benefits of various schemes implemented for ensuring socio-economic security

Out of which premium is being paid for insurance & pension schemes for beneficiary's family and balance is being invested in Family Provident Fund or is being given as cash

Scheme Benefits

Life Insurance

Pradhan Mantri Jeevan Jyoti Bima Yojana

- All family members whose age is between 18 to 50 years and have a Bank Account
- Annual Premium of Rs.330 will be paid by Haryana Government
- Life Insurance amount payable **Rs.2,00,000**

Accidental Insurance

Pradhan Mantri Jeevan Suraksha Bima Yojana

- All family members whose age is between 18 to 70 years and have a Bank Account
- Annual Premium of Rs.12 will be paid by Haryana Government
- Accidental Insurance amount payable **Rs.2,00,000**

Pension

Pradhan Mantri Kisan Maandhan Yojna

Pradhan Mantri Shram Maandhan Yojna

Pradhan Mantri Laghu Vyapari Maandhan Yojana

- Beneficiary's age should be between 18 to 40 years
- Beneficiary's contribution will be paid by Haryana Government
- Eligible member of the family attaining 60 years of age will get Rs.3,000 monthly pension

Pradhan Mantri Fasal Bima Yojana

Information, Public Relations and Languages Department, Haryana | www.prharyana.gov.in

₹ 200/-

अतिथि संपादक
विजय क्रान्ति

संरक्षक मण्डल
श्री लक्ष्मीनिवास झुनझुनवाला
श्री रघुपति सिंघानिया
श्री गोपाल जीवराजका
श्री आलोक बी. श्रीराम
श्री महेश गुप्ता
श्री रवि विग
श्री अनिल खेतान
श्री ललित कुमार मल्होत्रा
श्री सुबोध जैन
श्री सुदर्शन सरीन
श्री प्रदीप मुल्तानी

संपादक मंडल
श्री राम बहादुर राय
श्री अच्युतानंद मिश्र
श्री बलबीर पुंज
श्री अतुल जैन
डॉ. भारत दहिया
श्री इष्ट देव सांकृत्यायन

मंथन

सामाजिक व अकादमिक सक्रियता का उपक्रम

वर्ष–41, अंक–2 **अप्रैल–जून 2020**

त्रिविष्टप विशेषांक–2

संपादक
डॉ. महेश चन्द्र शर्मा

प्रबंध संपादक
श्री अरविंद सिंह
arvindvnsingh@gmail.com

सज्जा
श्री नितिन पंवार
nitin_panwar@yahoo.in

मुद्रण
कुमार ऑफसेट प्रिंटर्स
381, पटपड़गंज औद्योगिक क्षेत्र,
दिल्ली–110092

प्रकाशक
एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान
एकात्म भवन, 37, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग, नई दिल्ली–110002
दूरभाष : 011–23210074
ईमेलः manthanmagzin@gmail.com, ekatmrdfih@gmail.com
Website: www.manthandigital.com

अनुक्रम

1.	लेखकों का परिचय		03
2.	संपादकीय		04
3.	अतिथि संपादक की ओर से		05
4.	तिब्बत मुक्ति साधना : संकटग्रस्त हिमालय और चीनी वर्चस्व	आनंद कुमार	11
5.	त्रिविष्टप: विश्व का स्वर्गतुल्य शीर्ष धरातल व नेहरूयुगीन गलतियां-2	प्रोफेसर भगवती प्रकाश	20
6.	पंचशील: वरदान या अभिशाप?	क्लॉड अर्पी	23
7.	प्राचीन भारत की लुप्त पांडुलिपियों का पुनर्जन्म	विजय क्रान्ति	26
	दलाई लामा का निर्वासन क्यों और कैसे?		27
8.	राहुल की दृष्टि में तिब्बती समाज पर भारतीय प्रभाव	इष्ट देव सांकृत्यायन	37
9.	लद्दाख और भूटान में तिब्बत का प्रभाव	के. धोंदुप	41
10.	भारत में प्रवासी तिब्बती: प्रवास और निवास का द्वंद्व	जावेद अहमद	45
11.	भारत, तिब्बत और चीन : भारतीय नेताओं के विचार		
	क) भारत के प्रति चीन के असली इरादों को समझो	सरदार पटेल	50
	ख) तिब्बत चीन और हिंदुस्तान	डॉ. राम मनोहर लोहिया	53
	ग) भारत की अखंडता और स्वतंत्रता खतरे में पड़ जाएगी	पंडित दीनदयाल उपाध्याय	56
	घ) गूंगी-बहरी दुनिया और असहाय तिब्बत	लोकनायक जयप्रकाश नारायण	57
	ङ) भारत को चीन के बजाए तिब्बत सरकार को मान्यता देनी चाहिए थी	डॉ. भीमराव रामजी आंबेडकर	60
	च) चीन पर भरोसा मत कीजिए	आचार्य जे. बी. कृपलानी	61
	छ) तिब्बत पर चीनी कब्जा - विश्व की असभ्यता का प्रतीक है	आचार्य रजनीश	63
	झ) तिब्बत पर चीन की प्रभुसत्ता मानना भारत की भूल थी	अटल बिहारी वाजपेयी	65

आनुषंगिक आलेख

1.	स्मृति शेष श्री पी. परमेश्वरन्		10
2.	टांग्रा युम्को : एक पवित्र झील		22
3.	पंचशील: एक परिचय		25
4.	पोताला महल का इतिहास		44
5.	भयमुक्ति नीति की आवश्यकता	जार्ज फर्नांडीस	55
6.	तिब्बत : संसार का अंतिम उपनिवेश	निर्मल वर्मा	60
7.	चीनी कब्जे में तिब्बत का केवल विनाश हुआ	दसवें पंचेन लामा	62
8.	भारत की चीन नीति कैसी हो?	टी. एन. कौल	64

आवरण चित्र : तिब्बत के राजधानी शहर ल्हासा में स्थित राजप्रासाद पोताला महल। यही दलाई लामा का आवास रहा है।

लेखकों का परिचय

विजय क्रान्ति वरिष्ठ भारतीय पत्रकार, तिब्बतविद और कुशल छायाकार हैं। पिछले करीब पांच दशकों से वे कई प्रतिष्ठित भारतीय और अंतरराष्ट्रीय मीडिया समूहों में कार्य कर चुके हैं। चीन अधिकृत तिब्बत के भीतर निर्वासित तिब्बती समुदाय और जनजीवन की उनकी 47 वर्षों की फोटोग्राफी तिब्बत पर फोटोग्राफी संबंधी एक व्यक्ति का सबसे बड़ा कार्य है।

आनंद कुमार जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय से आचार्य पद से सेवानिवृत्त। इसके अलावा देश-विदेश के कई विश्वविद्यालयों में अध्यापन। संपर्क: anandkumar1@hotmail.com

प्रो. भगवती प्रकाश अर्थविद होने के साथ ही प्राचीन भारतीय धर्मग्रंथों के विशेषज्ञ भी हैं। वे गौतमबुद्ध विश्वविद्यालय, नोएडा, उत्तर प्रदेश के कुलपति हैं। वे भारत सोलर पॉवर डेवलपमेंट फोरम के संयोजक और स्वदेशी जागरण मंच के सहसंयोजक हैं।
संपर्क: bpsharma131@yahoo.co.in, Mob: 9829243459

क्लॉड अर्पी लेखक, पत्रकार, इतिहासकार और तिब्बतविद। 1949 फ्रांस के ऐंगोलम में जन्म, संप्रति भारत में औरोविले में निवास। फेट ऑफ टिबेट: व्हेन बिग इंसेक्ट्स ईट स्माल इंसेक्ट्स के अलावा तिब्बत, चीन, भारत और भारत-फ्रांस संबंधों पर कई लेख प्रकाशित।

इष्ट देव सांकृत्यायन वरिष्ठ पत्रकार एवं लेखक। एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान से संबद्ध। कुछ कृतियों का लेखन एवं अनुवाद। संपर्क : idsankrityaayan@gmail.com

के. धोंदुप (1952-1995) तिब्बत के रुबिन गंग में जन्मे थे। वह कुछ कर गुजरने की तमन्ना रखने वाले एक उत्साही युवा थे। 1970 के दशक में जब तिब्बत की जनता पर कम्युनिस्ट चीन का भयावह दमनचक्र चल रहा था, तभी कुछ युवाओं ने एक निर्वासित तिब्बती कम्युनिस्ट पार्टी (टीसीपी) की स्थापना की।
बाद में 1 मई 1979 को टीसीपी के संस्थापक सदस्यों के रूप में धोंदुप, नम्ग्याल और केल्संग तेंजिंग ने खुले तौर पर अपने अस्तित्व और कार्यों की घोषणा कर दी। हालांकि इससे निर्वासित तिब्बती समुदाय को थोड़ी हैरत, तनाव और बेचैनी भी हुई। इनकी पार्टी को अपने क्रांतिकारी विचारों के कारण बहुत विरोध, यहाँ तक कि जनरोष का भी सामना करना पड़ा। तिब्बत संबंधी कई विषयों पर धोंदुप का महत्वपूर्ण कार्य है। उनका निधन नई दिल्ली में 7 मई 1995 को हुआ।

जावेद अहमद जम्मू-कश्मीर में बांदीपुरा स्थित गवर्नमेंट डिग्री कॉलेज में लेक्चरर रहे हैं। निर्वासित तिब्बती समुदाय पर इनका अध्ययन है। संपर्क : parrayjaveed@gmail.com

“मैं दुनिया में और कहीं भी रहूँ, तिब्बत मुझे हमेशा मेरी जन्मभूमि की तरह पुकारता हुआ-सा लगता है। मैं अकसर सोचता हूँ कि काश! मैं हंसों और सारसों का वैसा ही कलरव सुन पाता और बिलकुल उसी तरह उनके पंखों की फड़फड़ाहट की आहट महसूस कर पाता जैसे कि ल्हासा की बेहद सर्द चाँदनी में देखा करता था। मेरी दिल की चाहत बस यह है कि मेरी यह कहानी दुनिया के लोगों में उन लोगों के प्रति थोड़ी सी समझ जगा दे जिनकी शांति और स्वतंत्रतापूर्वक जीने की चाहत को दुनिया से बहुत कम सहानुभूति मिल सकी।

ऑस्ट्रियाई पर्वतारोही लेखक हेनरिक हैरर अपनी कृति 'सेवेन ईयर्स इन टिबेट' में”

संपादकीय

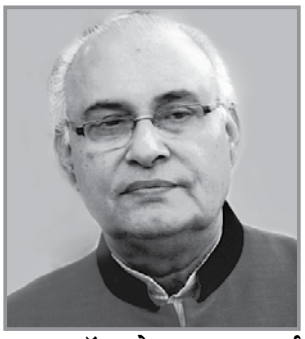

डॉ. महेश चन्द्र शर्मा

त्रिविष्टप विषेशांक भाग-2 आपके हाथों में है। तिब्बत के नाम से जाना जाने वाला यह क्षेत्र जो सांस्कृतिक भारत का सीमावर्ती है, वह संधि स्थल है जहाँ भारत का कैलाश पर्वत एवं मानसरोवर झील अवस्थित है। तिब्बत के मूलभूत अस्तित्व के बारे में जानकारियाँ बहुत कम हैं। इस विशेषांक के भाग एक में हमने यह प्रयत्न किया था कि अनुसंधानपूर्वक हम अपने सीमावर्ती इस अस्तित्व को जानें। यही वह राजमार्ग है जिसके द्वारा भारतीय संस्कृति ने पूर्वी एशिया का सघन प्रवास किया।

इस सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक अभिकेंद्र की अद्भुत् संतान परम पावन दलाई लामा हैं। भगवान बुद्ध की करुणा एवं मेघा के वे प्रतिनिधि हैं। विश्व की आज की राजनीति का स्वभाव साम्राज्यवादी है। इस अमानवीय साम्राज्यवाद का क्रूरतम जीवित उदाहरण है साम्यवादी चीन। इस बर्बरता ने त्रिविष्टप के संपूर्ण व्यक्तित्व एवं नेतृत्व को लील लिया है। यह अंक इस दुर्घटना की पड़ताल करता है एवं भारत के महनीय राजपुरुषों के स्वर को मुखरित करने का प्रयत्न करता है। इसीलिए इसमें सरदार वल्लभ भाई पटेल, डॉ. राममनोहर लोहिया, दीनदयाल उपाध्याय, लोकनायक जयप्रकाश नारायण, डॉ. भीमराव रामजी आंबेडकर, आचार्य जे.बी. कृपलानी, आचार्य रजनीश और अटल बिहारी वाजपेयी के समय-समय पर दिए गए वक्तव्य सम्मिलित किए गए हैं।

तिब्बत पर चीनी कब्जे के पहले दिन से ही वहाँ के लोगों की ओर से अपनी स्वतंत्रता का संघर्ष दुनिया के सामने है। तिब्बत के इस मुक्तिसंघर्ष से परिचित कराता है डॉ. आनंद कुमार का लेख 'तिब्बत मुक्ति साधना : संकटग्रस्त हिमालय और चीनी वर्चस्व'। पिछले अंक में लिए गए प्रो. भगवती प्रकाश के लेख 'विश्व का स्वर्गतुल्य शीर्ष धरातल व नेहरूयुगीन गलतियां' का दूसरा भाग आप इस अंक में पढ़ सकेंगे। भारत-चीन संबंधों में आरंभ से ही पंचशील की अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका रही है और तिब्बत इसका सर्वाधिक प्रमुख पक्ष है। पंचशील की वस्तुस्थिति का एक तटस्थ विश्लेषण है क्लॉड अर्पी के दो लेखों का समेकित रूप 'पंचशील: वरदान या अभिशाप'। भारत की प्रतिष्ठा तिब्बत में गुरुदेश के रूप में है, लेकिन गुरुदक्षिणा स्वरूप तिब्बत ने भारत को जो लौटाया है विश्व के किसी भी उपहार से बड़ा है। इसका विवरण आप देख सकते हैं इस अंक के अतिथि संपादक वरिष्ठ पत्रकार और तिब्बतविद विजय क्रांति के लेख 'प्राचीन भारत की लुप्त पांडुलिपियों का पुनर्जन्म' और साथ ही उन परिस्थितियों का ब्योरा भी जिनमें परमपावन दलाई लामा को अपने गृहराज्य से निर्वासित होना पड़ा। आधुनिक भारत के जिन विद्वानों ने तिब्बत के लोक में गहरे धंसने का प्रयास किया, उनमें महापंडित राहुल सांकृत्यायन का नाम उल्लेखनीय है। राहुल जी की दृष्टि में तिब्बती समाज पर भारतीय प्रभाव का विश्लेषण है इष्ट देव सांकृत्यायन के लेख में और भूटानी तथा लद्दाखी समाज पर तिब्बत के प्रभाव का विश्लेषण के धोंदुप ने किया है। अपने मूल से निर्वासित किसी भी समाज की पीड़ा को सच तो यह है कि शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता। फिर भी इसका एक प्रयास जावेद अहमद ने किया है और वह भी मंथन के इस अंक में है। गत अंक की तरह इस बार भी 'द टिबेट जर्नल' से हमें पर्याप्त सहयोग मिला है। इसके लिए हम उनके आभारी हैं।

कश्मीर विशेषांक एवं गांधार विशेषांकों की एक विशिष्ट दृष्टि रही है, उसकी निरंतरता में ये दो त्रिविष्टप विशेषांक भी हैं। अगले विशेषांक का विषय कुछ भिन्न है। जुलाई-सितंबर 'मंथन' स्त्रीशक्ति विशेषांक रहेगा।

'मंथन' अपने पाठकों के स्नेह से अभिभूत है। आपके माध्यम से हम मंथन को संवाद का मंच बना सकते हैं। संपादकीय विभाग इसका प्रयत्न करेगा, आपकी सहभागिता इसमें जरूरी है। वर्ष प्रतिपदा (चैत्र शुक्ल एकम् विक्रम संवत 2077 तद्नुसार 25 मार्च 2020) की हार्दिक मंगलकामनाएं। शुभम्

डॉ. महेश चन्द्र शर्मा
mahesh.chandra.sharma@live.com

अतिथि संपादक की ओर से

हृदयहीन महाशक्ति के मुकाबले खड़ा एक संत

विजय क्रान्ति

'मंथन' का पिछला अंक 'त्रिविष्टप विशेषांक-1' भारत और तिब्बत के बीच सदियों से लगातार मजबूत होते आए ऐतिहासिक और सांस्कृतिक संबंधों पर केंद्रित था। इसी शृंखला में 'त्रिविष्टप विशेषांक-2' प्रस्तुत है जो आज के तिब्बत को समर्पित है। इसमें भारत के हितों के संदर्भ में तिब्बत के महत्व की भी चर्चा है; चीनी कब्जे से पैदा हुई राष्ट्रीय गुलामी और अस्तित्व के संकट की भी और इस बात की भी कि संकट काल में किसी देश के नेता का व्यक्तित्व और उसकी सोच उसके इतिहास को कितनी गहराई तक प्रभावित कर सकते हैं।

कहने को तो दलाई लामा का स्थान एक ऐसे देश के निर्वासित शासनाध्यक्ष और धर्मगुरु का है जिसका आज न तो दुनिया के राजनीतिक नक्शे पर कोई वजूद बचा है और न अंतरराष्ट्रीय बिरादरी में ऐसी कोई सरकार है जो उन्हें या उनके देश को मान्यता देने का साहस रखती हो। 1959 में तिब्बत पर चीन के उपनिवेशवादी कब्जे की आखिरी मुहर लगने के बाद पिछले 61 साल से दलाई लामा की कानूनी पहचान केवल एक ऐसे व्यक्ति की है जो भारत में शरणार्थी के तौर पर रहता है। अपनी इसी शरणार्थी पहचान के साथ यह राजनयिक संत अहिंसा, करुणा और साझी मानवीय जिम्मेदारी का संदेश देने के लिए दुनिया के उन देशों की यात्राएं करता है जिनकी सरकारों और जनता में आज भी इतना दमखम बचा है कि वे चीनी विरोध और दादागीरी के बावजूद दलाई लामा को अपने यहां की यात्रा की अनुमति देने का साहस दिखा सकें।

लेकिन इसे दलाई लामा के व्यक्तित्व का कमाल कहना होगा कि अपनी इन व्यक्तिगत और राजनीति सीमाओं के बावजूद वह आज अंतरराष्ट्रीय मंच पर उस ऊंचाई तक जा पहुंचे हैं जहां वर्तमान इतिहास में केवल महात्मा गांधी, मार्टिन लूथर किंग और नेलसन मंडेला जैसी शख्सियतें पहुंच पाई। अपनी इसी शख्सियत के बूते पर दलाई लामा दुनिया को एक नया रास्ता दिखा रहे हैं और अपने साथ निर्वासन में रहने वाले लगभग डेढ़ लाख तिब्बतियों की राष्ट्रीय मुक्ति साधना को दिशा दे रहे हैं।

एक ऐसे युग में जब हिंसा व्यक्ति के स्तर से लेकर राष्ट्रीय राजनीति और अंतरराष्ट्रीय समस्याओं के हिसाब किताब को चुकता करने की सबसे अधिक प्रचलित करेंसी बन चुकी है, तब दलाई लामा के अहिंसक स्वतंत्रता आंदोलन की प्रभावशाली उपलब्धियों ने बुद्ध, महावीर और महात्मा गांधी के अहिंसा संबंधी विचारों की प्रभावशीलता और अनंतकालिकता को एक बार फिर से स्थापित करने में बड़ी भूमिका निभाई है। संयोग से इतिहास के इसी काल में फिलिस्तीनी आजादी का आंदोलन भी चल रहा है जो अहिंसा के बजाए सीधी हिंसा पर आधारित है। हमारे युग के इन दो सबसे लंबे राजनीतिक आंदोलनों के संदर्भ में दलाई लामा की उस कार्यशैली का विश्लेषण जरूरी हो गया है जिसके बूते पर यह अस्त्र-शस्त्रहीन बौद्ध भिक्षु चीन जैसे शक्तिशाली और हृदयहीन शासन से टक्कर लिए हुए है।

बीसवीं शताब्दी का पहला आधा हिस्सा खत्म होते-होते दो ऐसी राजनीतिक घटनाएं घटीं जिन्होंने एशिया की राजनीति को बहुत गहरे तक प्रभावित किया। सात दशक बीतने पर आज भी ये दोनों घटनाएं अनसुलझी हैं और न केवल एशिया, बल्कि पूरी दुनिया की शांति को झकझोरने की पहले से कहीं ज्यादा आशंकाएं अपने गर्भ में समेटे हुए हैं। पहली घटना थी पश्चिमी गुट द्वारा पश्चिम एशिया के फिलिस्तीनी इलाके में इजराइल की पुनर्स्थापना करना और उसके जवाब में फिलिस्तीनी संघर्ष की शुरुआत। दूसरी घटना भी लगभग उसी समय घटी जब 1949 में माओ त्से-तुंग की कम्युनिस्ट पार्टी ने चीन में कुओ मिन-तांग की सत्ता पलटकर शासन हथियाया और दो साल के भीतर अपने दो पड़ोसी देशों पूर्वी तुर्किस्तान (आज का 'शिंजियांग' प्रांत) और तिब्बत पर कब्जा जमा लिया।

पश्चिम एशिया में फिलिस्तीन की लड़ाई का नेतृत्व वहां के जुझारू नेता यासर अराफात के हाथ में

आया। दूसरी ओर तिब्बत की आजादी की लड़ाई का नेतृत्व करने की जिम्मेदारी वहां के धार्मिक शासक दलाई लामा के ऊपर आई जो 1949-50 में तिब्बत पर पहला चीनी हमला होने के समय मात्र पंद्रह साल के थे। ऐसे संकटकाल में उनके राजदरबारियों ने खुद राष्ट्रीय संकट का सामना करने के बजाए इस बालक का राज्याभिषेक करके उसे एक अभूतपूर्व संकट से दो-दो हाथ करने के लिए मैदान में उतार दिया था। तब से इन दोनों देशों की आजादी का संघर्ष समांतर चलता आ रहा है -- लेकिन एक दूसरे से विपरीत शैलियों में और एकदम अलग परिणामों के साथ। इस दौर में यदि इन दोनों स्वतंत्रता आंदोलनों और दोनों नेताओं की प्रगति और उपलब्धियों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाए तो अंतर बहुत चौंकाने वाला है।

पश्चिम एशिया में इजराइल और फिलिस्तीन के बीच चलने वाला संघर्ष जितना राजनीतिक है उससे कहीं ज्यादा धार्मिक है। इस संघर्ष में एक ओर तो पश्चिम के ईसाई देशों और दुनिया भर के यहूदियों के समर्थन से यहूदी देश इजराइल सीना तान कर खड़ा है और दूसरी ओर दुनिया भर के इस्लामी देशों के प्रत्यक्ष और परोक्ष समर्थन के सहारे फिलिस्तीनी मुस्लिम समाज फिलिस्तीन की मुक्ति को एक इस्लामी जेहाद के रूप में लड़ रहा है। धर्म के नाम पर लड़े जा रहे इस युद्ध में पिछले सत्तर साल के दौरान हिंसा के हर रूप का उपयोग हो चुका है। इनमें इजराइल और फिलिस्तीन का समर्थन करने वाले पड़ोसी देशों के बीच सीधे सैनिक युद्ध और इन देशों के हिस्सों पर इजराइल के कब्जे की अति भी शामिल है। इसके अलावा पिछले सात दशक में शायद ही कोई ऐसी तिमाही रही होगी जब फिलिस्तीन के किसी न किसी अतिवादी संगठन या आत्मघाती जेहादी ने इजराइल के किसी शहर कस्बे में निर्दोष नागरिकों की हत्या न की हो या इजराइली सेना ने निहत्थे फिलिस्तीनी नागरिकों की बस्तियों पर बम न बरसाए हों।

हालांकि पिछले कुछ साल में अमेरिका की पहल पर इन दोनों पक्षों के बीच बातचीत शुरू कराने और हिंसा को रुकवाने की दिशा में कुछ महत्वपूर्ण कदम उठाए गए हैं। लेकिन इन कदमों के बावजूद न तो दोनों पक्षों के बीच अविश्वास में कोई कमी आई है, न हिंसा और जवाबी हिंसा का दौर थमा है और न युद्ध के बजाए शांति के रास्ते से कोई सर्वसम्मत और सम्मानजनक सहमति पैदा करने का वातावरण बन पाया है।

बल्कि हिंसा के रास्ते से फिलिस्तीन को मुक्ति दिलाने के पैरोकार और फिलिस्तीनियों के सबसे बड़े नेता यासर अराफात अपने आखिरी दिन आते-आते अपनी ही जनता का विश्वास लगभग खो चुके थे। उनका स्थान उनका विरोधी हमास गुट महज इस आधार पर ले चुका था कि वह उनके मुकाबले कहीं ज्यादा बड़ी हिंसा में विश्वास जता रहा था। हालत यहां तक पहुंच चुकी थी कि बीमार यासर अराफात अपने ही घर में कैदी की तरह बंद हो चुके थे। इमरजेंसी की हालत में उनकी एंबुलेंस को इजराइली बमों से बचाकर अस्पताल ले जाने के लिए उनके साथियों को इजराइल सरकार से चिरौरी करनी पड़ती थी। आज भी कहीं ऐसा संकेत नहीं है कि दोनों पक्षों की मौजूदा शर्तों और रणशैली के बूते पर भविष्य में कोई सर्वमान्य या सम्मानजनक हल निकल पाएगा।

दूसरी ओर तिब्बत पर सैनिक हमले और आखिरकार 1951 में तिब्बत के जबरन चीन में विलय के बाद का इतिहास कई मायनों में अलग और ज्यादा रोचक है। तिब्बत की आजादी के इस संघर्ष में एक ओर चीन की कम्युनिस्ट व्यवस्था है जो न तो धर्म में आस्था रखती है और न किसी ऐसे नैतिक नियम को मानती है जो चीन और उसके कम्युनिस्ट शासकों के राजनीतिक हितों के अनुकूल न हो। अपनी नीतियों और उद्देश्यों को पूरा करने में वह हिंसा के किसी भी रूप को अपनाने में घोषित आस्था रखती है। चीनी शासन की इन्हीं नीतियों का परिणाम है कि पिछले सत्तर साल में तिब्बत में 12 लाख से भी ज्यादा लोग किसी न किसी तरह की चीनी हिंसा के कारण अप्राकृतिक मौत का शिकार हो चुके हैं।

हिंसा में गहरी आस्था रखने वाली चीनी व्यवस्था के मुकाबले तिब्बत की हैसियत कुछ भी नहीं है। आज चीन की आबादी एक सौ चालीस करोड़ से ज्यादा है। 1950 वाले दशक में तिब्बत की आबादी केवल 60 लाख थी। चीन की विशाल और आधुनिक सेना के मुकाबले तिब्बत की सेना इतनी छोटी और कमजोर थी कि 1949 के पहले हमले में ही वह लगभग पूरी तरह नष्ट हो गई। इसी तरह चीन की ध र्म और नैतिकता विहीन शासन व्यवस्था के मुकाबले तिब्बत एक धर्मप्रधान देश था जो बाकी दुनिया से खुद को पूरी तरह अलग रखे हुए था।

यह सच है कि तिब्बत पर चीनी कब्जे के बाद वाले कुछ वर्षों में वहां की जनता ने चीनी सेना के खिलाफ जनांदोलन चलाने के साथ-साथ छापामार युद्ध भी चलाया। 1959 में दलाई लामा द्वारा भागकर भारत में राजनीतिक शरण लेने के बाद तो इस छापामार लड़ाई में अमेरिका की खुफिया एजेंसी सी.आई.ए. ने भी उसे सहयोग दिया। लेकिन हिंसा के रास्ते से तिब्बत को आजादी दिलाने का यह विश्वास अपने

आरंभिक दौर में ही रुख बदल गया जब दलाई लामा ने अपने स्वतंत्रता संग्राम को पूरी तरह महात्मा गांधी की शैली में अहिंसक और शांतिपूर्ण रखने का फैसला किया। तिब्बत के भीतर भी चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के फासीवादी नियंत्रण और कड़े नियंत्रण के बावजूद आजादी का आंदोलन गुपचुप लगातार चल रहा है। आए दिन ऐसे समाचार आते रहते हैं जिनसे पता चलता है कि चीन के उपनिवेशवादी कब्जे के विरुद्ध आजादी का आंदोलन उन तिब्बती इलाकों में भी चल रहा है जिन्हें चीन सरकार ने तिब्बत से काटकर अपने निकटवर्ती चार प्रांतों युन्नान, सिचुआन, गांसू और चिंघाई में मिला लिया है। चीनी नियंत्रण की कठोरता, तिब्बती नागरिकों पर यात्रा की कड़ी पाबंदियों और इलेक्ट्रॉनिक निगरानी के कारण पूरे तिब्बत मं राष्ट्रीय स्तर का कोई संगठित आंदोलन कभी नहीं बन पाया। लेकिन पिछले कुछ वर्षों में 150 से ज्यादा तिब्बती नागरिक चीनी उपनिवेशवाद के खात्मे की मांग करते हुए आत्मदाह कर चुके हैं। इस तरीके से अपनी जान देने वाले सभी तिब्बती युवा थे जिनमें से कई चीन सरकार के स्कूलों और विश्वविद्यालयों में चीनी कम्युनिस्ट प्रोपेगेंडा वाली शिक्षा प्राप्त किए हुए थे। आज स्वयं को लोकतांत्रिक मूल्यों और मानवाधि कारों का पैरोकार कहने वाले विश्व के लिए यह शर्म की बात है कि ट्यूनीशिया में एक दुकानदार द्व ारा आत्मदाह करने पर दर्जन भर देशों में 'स्प्रिंग' आंदोलन शुरू हो गया और दुनिया भर के मानवाधि कार संगठनों ने इस आत्मदाह पर ढेरों आंसू बहाए। लेकिन चीनी उपनिवेशवाद के विरुद्ध प्रार्थना मुद्रा में बैठकर आत्मदाह करने वाले इन तिब्बती युवाओं के लिए संयुक्त राष्ट्र जैसा सफेद हाथी भी एक आंसू नहीं बहा पाया।

इसमें शक नहीं कि यासर अराफात के हिंसक जेहाद के मुकाबले दलाई लामा के इस अहिंसक आंदोलन को दुनिया के अखबारों और समाचार माध्यमों में हमेशा छोटी सुर्खियां हासिल हुई। लेकिन पिछले सात दशक के दौरान दलाई लामा के इस अहिंसक आंदोलन ने फिलिस्तीनी आंदोलन के मुकाबले जो कुछ हासिल किया है वह न केवल दलाई लामा के अनूठे व्यक्तित्व की शक्ति का परिचय देता है बल्कि बुद्ध, महावीर और गांधी द्वारा प्रतिपादित अहिंसा के सिद्धांत की प्रभावशीलता और कालजेयता को भी दिखाता है।

अहिंसा के मार्ग पर चलते हुए दलाई लामा ने पिछले साठ साल में एक लंबा रास्ता तय किया है। भारत से मिले प्यार, पुनर्वास की सहायता और मुट्ठी भर शरणार्थियों के बूते पर निर्वासित दलाई लामा ने तिब्बत की उस संस्कृति और राष्ट्रीय पहचान को फिर से जिंदा कर लिया है जिसे तिब्बत के भीतर चीन ने बेरहमी से नष्ट कर डाला है। आज वह धर्मशाला में अपनी निर्वासित सरकार चलाते हैं जिसे दूसरी सरकारों से भले ही कूटनीतिक मान्यता नहीं मिली पर शांति और भाईचारे पर आधारित दलाई लामा के राष्ट्रीय संघर्ष से अभिभूत दर्जनों सरकारें और राष्ट्रीय संसदें उन्हें अपने यहां आमंत्रित करके गौरव अनुभव करती हैं। हालीवुड सितारों और पॉप संगीत के अंतरराष्ट्रीय सितारों से लेकर दुनिया भर के मानवतावादी संगठन उनके आंदोलन को खुला समर्थन देने में गर्व करते हैं। सौ से ज्यादा देशों में उनके शांतिपूर्ण संघर्ष को सक्रिय सहयोग देने के लिए आज 300 से ज्यादा तिब्बत समर्थक संगठन खड़े हो चुके है। 2008 में बीजिंग ओलंपिक के माध्यम से चीन की तानाशाह सरकार को दिए जाने वाले सम्मान का जिस विशाल पैमाने पर दुनिया भर में महीनों तक विरोध चला वह दलाई लामा के शांतिवादी आंदोलन की लोकप्रियता का ही प्रतीक था। उससे पहले मार्च 2008 में जिस तरह तिब्बत स्वायत्त क्षेत्र से सैंकड़ों मील दूर के तिब्बती इलाकों में चीन विरोधी प्रदर्शन दो महीने तक चले उसने चीन सरकार और पूरी दुनिया को दिखा दिया कि छह दशक तक तिब्बत से बाहर रहने वाले दलाई लामा का प्रभाव उन तिब्बती पीढ़ियों में भी है जिन्होंने उन्हें कभी देखा तक नहीं।

यह देखकर कोई भी हैरान हो सकता है कि दुनिया भर में शांति और सार्वभौमिक जिम्मेदारी का संदेश फैलाने वाला यह संत सिपाही आज दुनिया के हर लोकप्रियता संबंधी सर्वे में सबसे ऊपर दिखाई देता है। अमेरिकी कांग्रेस (संसद), यूरोपीय संसद और जर्मन संसद समेत कम से कम 20 संसदें तिब्बत के समर्थन में 50 से अधिक प्रस्ताव पारित कर चुकी हैं। अमेरिका, यूरोप और अन्य देशों के 1000 से ज्यादा नगरों के मेयर चीन के कूटनीतिक गाली गलौज और धमकियों के बावजूद अपने नगरपालिका भवनों पर हर साल 10 मार्च को तिब्बत का झंडा लगाते हैं। लेकिन यह शांति के पुजारी दलाई लामा की ही शालीनता है कि शांति नोबेल पुरस्कार ग्रहण करते हुए वह घोषणा करते हैं कि, ''मेरा शत्रु भी मेरी करुणा का अधिकारी है।''

दलाई लामा के व्यक्तित्व का एक और महत्वपूर्ण पहलू है लोकतंत्र में उनकी आस्था जिसे उन्होंने पिछले छह दशक के दौरान बाकी दुनिया के साथ संपर्क में विकसित किया है। एक धर्म आधारित

राजनीतिक और सामंती सामाजिक व्यवस्था में पलने-बढ़ने के बावजूद निर्वासन के अपने आरंभिक दौर में ही दलाई लामा ने लोकतंत्र के महत्व और उसकी ताकत को पहचाना। 1960 में उन्होंने तिब्बत की धर्म आधारित शासन प्रणाली में लोकतांत्रिक मूल्यों को शामिल करने की जो परंपरा शुरू की वह आज उस ऊंचाई तक पहुंच चुकी है जहां तिब्बत की शरणार्थी जनता गुप्त मतदान से न केवल अपनी 'निर्वासन सरकार' के सांसदों का चुनाव करती है बल्कि पिछले 19 साल से वह सीधे वोट के माध्यम से अपने 'प्रधानमंत्री' का चुनाव भी खुद करने लगी है।

दलाई लामा के इस लोकतांत्रिक व्यक्तित्व का एक और उदाहरण 2012 में देखने को मिला जब उन्होंने पिछले पांच सौ साल की परंपरा को तोड़ते हुए तिब्बत के शासनाध्यक्ष के रूप में अपने राजनीतिक और शासकीय अधिकार निर्वाचित प्रधानमंत्री और संसद को सौंप दिए। इस परिवर्तन के बाद अब दलाई लामा की भूमिका केवल एक धर्मनेता तक सीमित रहेगी। उनके इस एक कदम ने तिब्बत की मुक्ति साधना को एक नई दिशा दे दी है। तिब्बत पर उपनिवेशवादी कब्जा जमाए बैठी चीन सरकार पिछले कई दशक से यह उम्मीद लगाए बैठी थी कि वर्तमान दलाई लामा के गुजर जाने के बाद वह अपनी मर्जी के बच्चे को दलाई लामा का अगला अवतार घोषित करके तिब्बत की समस्या को हमेशा के लिए हल कर लेगी। लेकिन अपने राजनीतिक अधिकारों को तिब्बत के निर्वाचित प्रतिनिधियों के हाथ में सौंपकर दलाई लामा ने तिब्बती मुक्ति साधना को अनंतकाल का जीवन दे दिया है। इससे नया दलाई लामा नियुक्त करने के चीनी मंसूबों को भी जोरदार धक्का लगा है।

आजकल दलाई लामा और उनका साथी शरणार्थी समाज एक गंभीर भीतरी संकट से जूझ रहे हैं। तिब्बत के भीतर तिब्बती पहचान को नष्ट करने के लिए चीन सरकार जिस तेजी से आगे बढ़ रही है उससे चिंतित दलाई लामा ने चीन सरकार के सामने प्रस्ताव रखा था कि अगर चीनी नेतृत्व तिब्बत की पहचान को बनाए रखने और तिब्बत की जनता को वास्तविक स्वायत्तता देने को तैयार हो तो वह चीनी संविधान और व्यवस्था के भीतर तिब्बत पर चीनी शासन को स्वीकार करने को तैयार हैं। उनके इस कदम का कुछ पश्चिमी सरकारों और नेताओं ने स्वागत किया है। लेकिन तिब्बती जनता के बीच इस सवाल पर मतभिन्नता अभी समाप्त नहीं हुई है। तिब्बती समाज के एक बड़े और सोचने वाले वर्ग को दलाई लामा की समझ और सदाशयता पर तो पूरा विश्वास है। लेकिन वह चीन सरकार के अब तक के सैंकड़ों साल के इतिहास को देखते हुए यह स्वीकार करने को तैयार नहीं है कि चीन सरकार भी भविष्य में वैसी ही ईमानदारी दिखाएगी जो दलाई लामा दिखा रहे हैं। इस वर्ग के मन में गहरी आशंका है कि तिब्बती सिरदर्द से मुक्ति पाने के लिए चीन सरकार आज तो हर तरह का आश्वासन दे देगी लेकिन ऐसी कोई गारंटी नहीं है कि चीनी शासक भविष्य में इस समझौते से मुकर नहीं जाएंगे। इस राष्ट्रीय असमंजस से निबटना दलाई लामा के लिए एक चुनौती है।

तिब्बती परंपरा में दलाई लामा और अधिकांश अन्य उच्च लामाओं का चुनाव पुनर्जन्म के आधार पर होता है। तिब्बती महायान बौद्ध मत में यह मान्यता है कि हर जीव का पुनर्जन्म होता है और यह उस व्यक्ति के कर्मों से निर्धारित होता है कि वह अगले जन्म में मनुष्य के रूप में फिर से पैदा होगा या किसी अन्य जीव के रूप में। लेकिन उच्च स्तर के और विद्वान लामाओं के बारे में मान्यता है कि वे अपने पुनर्जन्म के बारे में स्वयं निर्णय कर सकते हैं। तिब्बती भाषा में ऐसे अवतारी लामाओं को 'तुलकू' कहा जाता है और उनके नाम के साथ सम्मान प्रदर्शन के लिए 'रिन्पोछे' संबोधन का प्रयोग किया जाता है। चीन में अवतारी लामाओं को 'लिविंग बुद्धा' कहा जाता है। दलाई लामा को भगवान बुद्ध के करूणा स्वरूप अवलोकितेश्वर का अवतार माना जाता है। तिब्बती भाषा में अवलोकितेश्वर का नाम 'चेन रेजी' है। माना जाता है कि अपनी मृत्यु से पहले हर अवतारी लामा ऐसे संकेत छोड़ जाता है जिनसे पता चलता है कि वह अगला जन्म कहां और कैसे परिवार में लेंगे। इस बच्चे की खोज और पहचान के लिए वरिष्ठ लामाओं की एक कमेटी एक निर्धारित तिब्बती प्रक्रिया का उपयोग करती है। तेरहवें दलाई लामा की मृत्यु के बाद वर्तमान दलाई लामा को जब तिब्बत के उत्तर-पूर्व के आम्दो प्रांत के ताक्तसेर गांव के एक किसान परिवार में खोजा गया था तब वह लगभग चार साल के थे। उसके बाद इस बालक के लालन पालन और शिक्षा की व्यवस्था राजधानी ल्हासा में वरिष्ठ लामाओं की देखरेख में की गई।

इधर दलाई लामा की आयु बढ़ने के साथ-साथ (वह इस समय 84 वर्ष के हैं) चीन सरकार की हताशा भी बढ़ती जा रही है। आए दिन वह अपने बयानों में यह घोषणा करती है कि अगले दलाई लामा का चुनाव करने का अधिकार न तो स्वयं दलाई लामा को है और न तिब्बती जनता को बल्कि यह अधि कार केवल चीन की कम्युनिस्ट पार्टी को है। 2007 में चीन सरकार ने एक सरकारी आदेश 'आर्डर-5' जारी करके एक नए कानून की घोषणा कर दी थी जिसके अनुसार कोई भी अवतारी लामा को तब तक

जन्म लेने और मान्यता पाने की छूट नहीं होगी जब तक उसे और उसके मठ को चीनी कम्युनिस्ट पार्टी और उसके नियंत्रण में चलने वाली बौद्ध एसोसिएशन से लिखित अनुमति न मिल जाए। इस आदेश के अनुसार दलाई लामा के अगले अवतार को भी इसी तरीके से चुना जाएगा।

चीन सरकार की इस हताशा के पीछे मुख्य कारण यह है कि तिब्बत पर 70 साल तक कब्जा जमाए रखने के बाद भी वह तिब्बती जनता का दिल जीत पाने में असफल रही है। आरंभिक वर्षों में चीन सरकार ने तिब्बत में धार्मिक मठों और मंदिरों का विनाश करके, मठ परंपरा को समाप्त करके, दलाई लामा के खिलाफ दुष्प्रचार करके और तिब्बती जनता में धर्म विरोधी अभियान चला कर यह उम्मीद की थी कि तिब्बती जनता के मन से धर्म का प्रभाव समाप्त कर देने से उसे देशभक्त चीनी नागरिकों में बदला जा सकेगा। लेकिन 1987, 1989 और 2008 में बार-बार उठने वाले चीन विरोधी प्रदर्शनों और स्वतंत्रता आंदोलनों में चीन के कम्युनिस्ट शासकों को यह देखकर बहुत सदमा पहुंचा कि इस आंदोलन को वह पीढ़ी चला रही है जो दलाई लामा के देश छोड़ने के बाद पैदा हुई और जिसके माता पिता और दादा-नाना ने भी दलाई लामा या उनके शासन को नहीं देखा था। इसीलिए तिब्बती जनता के मन पर नियंत्रण जमा लेने की उम्मीद से वह अब तिब्बत की धर्मव्यवस्था और वरिष्ठ अवतारी लामाओं पर अपना नियंत्रण जमाने में लगी हुई है।

यह लेख लिखे जाने के दिनों में अमेरिकी संसद के निचले सदन हाउस ऑफ रिप्रेजेंटेटिव्स ने 28 जनवरी 2020 को दलीय विभाजन को ताक पर रखते हुए 392-22 मतों के विशाल बहुमत से एक ऐसा बिल (एचआर-4331) पारित किया है जिसमें चीन सरकार को सीधे धमकाया गया है कि अगले दलाई लामा के चुनाव का अधिकार केवल वर्तमान दलाई लामा और तिब्बती संस्थानों को होगा तथा चीन की सरकार या कम्युनिस्ट पार्टी को इसमें दखल देने का कोई अधिकार नहीं होगा। प्रेक्षकों को पूरी उम्मीद है कि अमेरिकी सीनेट भी इस बिल को पास करके इसे कानून का रूप दे देगी।

भारत-चीन संबंधों के मामले में भारत सरकार इन तथ्यों से अच्छी तरह वाकिफ है कि चीन ने तिब्बत पर 1951 में जबरन कब्जा करके रातों रात दुनिया की सबसे शांत भारत-तिब्बत सीमा को खतरनाक भारत-चीन सीमा में बदल दिया; कब्जाए हुए तिब्बत को छावनी की तरह इस्तेमाल करके चीन ने 1962 में भारत पर हमला किया; चीन पर अपने कब्जे का हवाला देते हुए अब वह अरुणांचल प्रदेश को 'दक्षिण ी तिब्बत' बताकर उस पर अपना कब्जा जता रहा है; पाकिस्तान को भारत के खिलाफ परमाणु हथियार देने के बाद अब वह कश्मीर पर पाकिस्तानी राग गा रहा है और; जम्मू-कश्मीर पर भारत सरकार के खिलाफ संयुक्त राष्ट्र समेत कई अंतरराष्ट्रीय मंचों पर अभियान चला रहा है। लेकिन दुनिया यह देखकर हैरान है कि तिब्बत के सवाल पर भारत सरकार एक अजीब चुप्पी साधे हुए है।

भले ही भारत सरकार आज अमेरिका सरकार की तरह चीन सरकार को सीधे-सीधे चुनौती देने की हालत में नहीं है। लेकिन भारत का जनमानस अपनी सरकार से यह अपेक्षा तो रखता ही है कि वह तिब्बत के मामले में चीन सरकार की इस हठधर्मिता का कुछ तो जवाब दे। शायद सैनिक और कूटनीतिक मोर्चों पर भारत सरकार अभी किसी बड़े कदम के प्रति उत्सुक न हो लेकिन वह कुछ ऐसे कदम तो उठा ही सकती है जो एक शांत मगर मजबूत अंदाज में चीन सरकार को उसकी औकात दिखा सके। दलाई लामा को 'भारत-रत्न' जैसा सम्मान देना ऐसा ही एक अनुकूल कदम होगा। पिछले साठ साल में दलाई लामा ने जिस तरह दुनिया भर की अपनी यात्राओं और अंतरराष्ट्रीय मंचों पर तथा राष्ट्राध्यक्षों के साथ अपनी वार्ताओं में भारत के मानवीय और लोकतांत्रिक पक्ष का प्रचार किया है उसके संदर्भ में भी यह कदम बहुत उचित होगा। वैसे भी यदि भारत सरकार नेलसन मंडेला, खान अब्दुल गफ्फार खान और मदर टैरेसा जैसी विदेशी हस्तियों को 'भारत-रत्न' से सम्मानित कर सकती है तो दलाई जैसे युग पुरूष को यह सम्मान देने से विश्व बिरादरी में भारत का अपना मान भी बढ़ेगा और चीन सरकार की दादागीरी के लिए भी एक सही जवाब होगा। और एक हठधर्मी तथा अमानवीय महाशक्ति के मुकाबले शांति से डटे हुए इस संत सिपाही के प्रति सही सम्मान भी होगा।

तिब्बत पर केंद्रित 'मंथन' का यह दूसरा अंक प्रस्तुत करते हुए हम आशा करते हैं कि यह हमें भारत के सबसे पुराने और ऐसे प्रिय पड़ोसी देश के वर्तमान संकट के बारे में नए उत्साह से सोचने की प्रेरणा देगा जिसके साथ भारत की अपनी सुरक्षा भी बहुत गहरे से जुड़ी हुई है।

विजय क्रान्ति

स्मृति शेष श्री पी. परमेश्वरन्

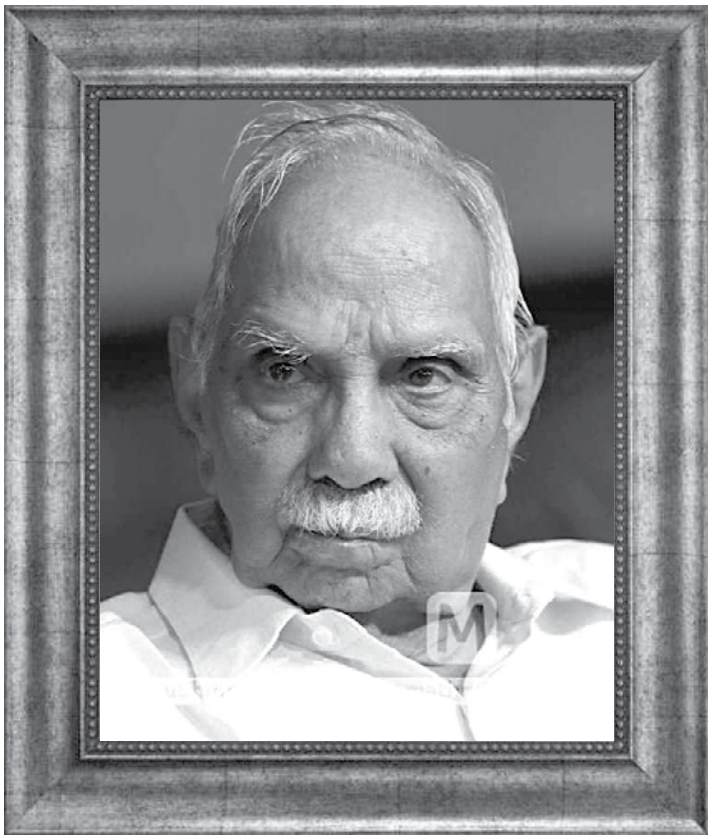

(27 सितंबर, 1926 - 9 फरवरी, 2020)

9 फरवरी 2020 शुक्रवार को भारतीय प्रज्ञा के पुरोधा प्रतिनिधि श्री पी. परमेश्वरन दिवंगत हो गए। परमेश्वरन् जी 'मंथन' त्रैमासिक के संस्थापक संपादक थे। श्रद्धेय नानाजी देशमुख के साथ जो दलगत एवं सत्ता की राजनीति छोड़कर रचनात्मक कार्यों के लिए आगे आए श्री परमेश्वरन् जी उनमें से एक थे। वे दीनदयाल शोध संस्थान के प्रथम् अकादमिक निदेशक बने।

आपातकाल (1975-77) में लोकतंत्र सत्याग्रही के रूप में वे जेल गए। तब वे भारतीय जनसंघ के राष्ट्रीय उपाध्यक्ष थे। परमेश्वरन् जी केरल से निकलने वाले प्रथम् प्रचारकों में से थे। दक्षिण भारत में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के कार्य को प्रस्थापित करने में उनकी निर्णायक भूमिका थी। परमेश्वरन् जी प्रमुखत: एक बौद्धिक प्रतिभा थे, दीनदयाल शोध संस्थान में पाँच वर्ष कार्य करने के बाद वे पुन: केरल चले गए एवं वहाँ पर 'भारतीय विचार केंद्रम' की स्थापना की। केरल में मार्क्सवाद से बौद्धिक मुठभेड़ करने तथा हिंदुत्व के विधायक प्रतिपादन के लिए 'भारतीय विचार केंद्रम' की भूमिका सदैव याद की जाएगी।

- कन्याकुमारी में मा. एकनाथ रानाडे द्वारा स्थापित विवेकानंद शिला स्मारक के साथ सक्रिय 'विवेकानंद केंद्र' के भी परमेश्वरन् जी अध्यक्ष रहे। उनका समर्पित एवं सार्थक जीवन एक परिपूर्ण स्वयंसेवक एवं प्रचारक होने का मानक था। वे चले गए।

- मंथन की शोध प्रवृत्ति एवं त्रैमासिक विषयकेंद्रिता के वे ही नियामक थे। 'एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान' एवं 'मंथन' की ओर से उनकी स्मृति को नमन एवं भावपूर्ण श्रद्धांजलि। शांति:!!!

तिब्बत मुक्ति साधना संकटग्रस्त हिमालय और चीनी वर्चस्व

आनंद कुमार

चीनी साम्राज्यवाद से तिब्बत की लड़ाई और उसकी अपनी स्वतंत्रता का संघर्ष दोनों साथ-साथ चल रहे हैं। तिब्बत की स्वतंत्रता का मुद्दा दुनिया के बाकी देशों की तुलना में हमारे लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। तिब्बत पर चीनी कब्जे, इसके खिलाफ तिब्बतियों के संघर्ष का वृत्तांत और इसी परिप्रेक्ष्य में भारतीय विदेशनीति का एक आकलन

भारत के लिए 'तिब्बत प्रश्न' का बाकी दुनिया से ज्यादा महत्त्व है। लेकिन हम इसके बारे में 1949 से ही दुविधाग्रस्त हैं। क्या इससे हमारा, तिब्बत और चीन का और बाकी एशिया का कोई हित हुआ है या यह अहितकारी नीति सिद्ध हुई है? शास्त्रों के अनुसार 'संशयात्मा विनश्यति'। फिर हम क्यों संशय में फंसे हुए हैं? इस आलेख में तिब्बत मुक्ति-साधना, हिमालय की दुर्दशा, और चीन-भारत संबंधों की एक पड़ताल की गई है। इसमें शुरू में संदर्भ का संक्षिप्त प्रस्तुतीकरण करते हुए क्रमशः तिब्बतियों के पुरुषार्थ, चीन की गलतफहमी, भारत के अनुभव, चीन के विस्तारवाद का रहस्य, और तिब्बत की मुक्ति-साधना की बढ़ती गति की चर्चा के जरिये भारतीय नीति में स्पष्टता की आवश्यकता पर बल दिया गया है। शुभस्य शीघ्रम्।

भारत-तिब्बत-चीन त्रिकोणः कुछ बातें

यह सच है कि भारत के साम्राज्यवाद विरोधी स्वतंत्रता आंदोलन ने बीसवीं सदी में दुनिया के अनेकों पराधीन देशों के लिए प्रेरणा-स्रोत का काम किया। लेकिन यह भी सही है कि भारत की स्वतंत्रता के आरंभिक दौर में ही 1949-59 के बीच पडोसी देश तिब्बत की स्वाधीनता का जब चीनी कम्युनिस्ट शासन द्वारा हनन किया गया तो हम इस 'शिशु-हत्या' की अनदेखी करने के अपराधी हुए।[1] क्यों? निश्चय ही स्वाधीनोत्तर भारतीय नेतृत्व चीनी कम्युनिस्ट क्रांति से अभिभूत था। शायद चीन-भारत की एकता के जरिए यूरोप-अमरीका के वर्चस्व से मुक्त नई दुनिया का सपना था। इसलिए प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू और विदेश मंत्री कृष्ण मेनन और भारत के अधिकांश कम्युनिस्ट 'हिंदी-चीनी भाई भाई' का माहौल बनाने की कोशिश में लगे थे।[2] इसके लिए हमने चीन के साथ 1954 में पंचशील समझौते पर दस्तखत किया। पंचशील समझौते की अवधि को चीन की जिद पर चीन में भारत के राजदूत त्रिलोकीनाथ कौल की आपत्ति के बावजूद कुल 8 साल ही रखा गया। जबकि अधिकांश अंतरराष्ट्रीय संधियाँ 10 साल या 20 साल की अवधि के लिए हुआ करती हैं। फिर पंचशील समझौते की सफलता के लिए 1914 में ब्रिटेन, चीन और तिब्बत के बीच हुई लंबी वार्ता और ब्रिटेन-तिब्बत के बीच हस्ताक्षरित शिमला समझौते के जरिए प्राप्त कई सुविधाओं को भारत ने तिब्बत में चीन के हित संवर्धन के लिए छोड़ भी दिया। इसके साथ ही भारत ने गुटनिरपेक्ष देशों में कम्युनिस्ट चीन के प्रति अनुकूलता बनाई। इससे आगे जाकर कम्युनिस्ट चीन को संयुक्त राष्ट्र संघ के सुरक्षा परिषद् की पांच सदस्यीय स्थायी समिति में शामिल करने का अभियान चलाया।[3]

इसके दो बरस बाद ही 1956 में भगवान बुद्ध की 2500वीं जयंती के उत्सव में दलाई लामा भारत के अतिथि के रूप में आए और उन्होंने तिब्बत की बिगड़ती दशा की जानकारी देते हुए भारत से शरण और सहायता मांगी थी। लेकिन हमारी सरकार ने उन्हें धीरज रखने की सलाह दी और वापस भेज दिया। तिब्बत पर चीन का साम्राज्यवादी कब्जा बेलगाम हो गया। इस पाप में ब्रिटेन, अमरीका, रूस, फ्रांस, जापान समेत समूचे संयुक्त राष्ट्रसंघ की रहस्यमय चुप्पी का भी योगदान रहा। भारत ने 1959 में दलाईलामा और अन्य हजारों तिब्बती स्त्री-पुरुषों को शरण देकर पुनर्वास के जरिये प्रायश्चित जैसा भी शुरू

किया। फिर 1962 में अपनी धरती का बहुत बड़ा हिस्सा और अपने हजारों सैनिक भी गँवाए। लेकिन तिब्बत का स्वराज तो चीनी राज में बदल चुका था और भारत दुनिया की निगाह में एक मान-मर्दित देश भर रह गया था। क्या दलाई लामा का यह निष्कर्ष सही है कि किन्ही कारणों से आजाद भारत का विदेश नीति प्रतिष्ठान चीन के प्रति जरूरत से ज्यादा संवेदनशील और तिब्बत के प्रति उदासीन रहता आया है? जबकि तिब्बत के प्रति ज्यादा सजगता की जरूरत रही है क्योंकि यह देश भारत और चीन के बीच आदिकाल से शांति क्षेत्र रहता आया था (जिसे अंग्रेजी में 'बफर स्टेट' कहते हैं)। यह तो साधारण समझदारी की बात होनी चाहिए थी कि तिब्बत की आजादी से ही भारत और चीन के बीच मैत्री और संवाद रहेगा।

दूसरी तरफ चीन ने तिब्बत पर कब्जे के लिए कम्युनिस्ट क्रांति के तुरंत बाद 1950 में एक 17-सूत्रीय समझौता लादा। इसके बाद हिमालय क्षेत्र में सडकों का जाल बिछाया। सैनिक अड्डे बनाए। दलाई लामा को 1959 में देश छोड़ने के लिए मजबूर किया। इससे ल्हासा में जन-विद्रोह हो गया। चीनी सेना ने निर्ममता से दमन किया और दलाई लामा के अपने कई हजार अनुयायियों के साथ भारत में शरणार्थी बनने पर पंचेन लामा को तिब्बत का कागजी शासक बनाया। इससे पैदा परस्पर आक्रोश और अविश्वास पिछले साठ बरसों में लगातार बढ़ रहा है। उदाहरण के लिए, जब अपने अंतिम बरसों में पंचेन लामा का मोहभंग हुआ तो उनके साथ भी चीनी शासकों ने क्रूरताएँ करने में संकोच नहीं किया। पंचेन लामा के निधन के बाद तिब्बती लामा समुदाय ने जिस बच्चे को पंचेन लामा का अवतार माना उस बच्चे को माता-पिता और शिक्षक लामाओं समेत कैद करके एक नए पंचेन लामा की घोषणा की गई। इससे पूरी दुनिया में 'पंचेन लामा को रिहा करो' का अभियान चला। तिब्बती लोगों ने इस एकमात्र 'शिशु राजनीतिक बंदी' की रिहाई के लिए प्रभावशाली जनमत बनाया। लेकिन चीन के रुख में कोई परिवर्तन नहीं आया है। इससे सतर्क होकर वर्तमान दलाई लामा ने यह भविष्यवाणी कर दी है कि उनका पुनर्जन्म चीन के कब्जे के तिब्बत क्षेत्र में नहीं होगा!

तिब्बत की पीड़ा के मुख्य पहलू[4]

तिब्बत की पीड़ा के कई दुखद आयाम हैं। इनमें जनसंख्या का बढ़ता असंतुलन, संस्कृति और धर्म का विनाश, शिक्षागत अभाव, पर्यावरण में विकृतियाँ,और सेना का बढ़ता आकार हर तरह से चिंताजनक हैं। 1951 में तिब्बत की जनसंख्या में तिब्बती 96 प्रतिशत थे, गैर-तिब्बती 4 प्रतिशत। 2000 की जनगणना के अनुसार तिब्बतियों की जनसंख्या कुल 54 लाख थी और गैर-तिब्बतियों की जनसंख्या बढ़कर 78 लाख हो चुकी थी। 21वीं शताब्दी के दो दशकों में भी तिब्बत में गैर-तिब्बती आबादी को बढ़ावा देने की नीति जारी रही है और यह असंतुलन और तिब्बती विरोधी हो चुका है।

चीन सरकार ने 1959 में तिब्बत पर सैनिक कब्जा पूरा करने के बाद संस्कृति और धार्मिक आस्था-व्यवस्था को नष्ट करने के लिए योजनाबद्ध तरीके से काम किया है। 2005 के एक प्रतिवेदन के अनुसार तिब्बत स्वायत्तशासी क्षेत्र में 45 प्रतिशत निरक्षरता थी। इस क्षेत्र के बाहर के कई क्षेत्रों में निरक्षरता का प्रतिशत 7 प्रतिशत से भी कम था। तिब्बती भाषा सिखाने वाले 80 प्रतिशत विद्यालय 2008 के बाद लगातार बंद किए गए हैं। 2010 में शिक्षा की एक 10 वर्षीय योजना भी तैयार की गई। इसी के समांतर, तिब्बत स्वायत्तशासी क्षेत्र के सभी विश्वविद्यालयों में पाठ्य-पुस्तकों को बदल दिया गया और विद्यालयों और विश्वविद्यालयों में शिक्षा-माध्यम के रूप में केवल चीनी भाषा को ही इस्तेमाल किया जाने लगा है।

धर्म-आधार को कमजोर करने के लिए दो शर्मनाक काम किए गए है। सर्वप्रथम लगभग 6,000 मठों और विहारों को नष्ट कर दिया गया। इसी के समांतर बचे हुए सभी विहारों और मठों में भिक्षु व भिक्षुणियों की संख्या सीमित कर दी गई है। इसके परिणामस्वरूप 1994 के बाद सभी विहारों में भिक्षुओं और भिक्षुणियों की संख्या में तेजी से कमी आई है।

चीनी सेना शासन द्वारा तिब्बतियों के धर्म-आधार और भाषा के साथ ही जीवनशैली को बदला जा रहा है। कम से कम 35 प्रतिशत तिब्बतियों की जीवनशैली पर सीधा प्रहार हो चुका है। जिनका जीवन पशु-पालन पर आश्रित था, जो लोग पालतू पशुओं के साथ भ्रमणशील तरीके से जीवन-यापन करते थे उनका निवास क्षेत्र और स्थान-विशेष में सीमित कर दिया गया है। आजीविका के लिए पशुओं की संख्या भी निश्चित कर दी गई है। कृषि क्षेत्र में रसायनयुक्त खेती और फसलों में एकरूपता की नीति लागू की गई है। गांवों के प्रशासन में चीनी भाषा का वर्चस्व बनाया जा चुका है।

तिब्बत का पर्यावरण-विनाश भी चीनी कब्जे के परिणामस्वरूप हुआ है। तिब्बत एशियाई देशों में बहने वाली दस महत्वपूर्ण नदियों का उदगम-स्थल है। इनसे हमारी धरती के 3 अरब से ज्यादा स्त्री-पुरुषों की पानी की जरुरत पूरी होती है। यह नदियाँ भारत, पकिस्तान, म्यांमार, बांग्लादेश और चीन को संपन्न बनाती हैं। पर्यावरण वैज्ञानिकों के 2007 के एक अध्ययन के अनुसार इनमें से चार नदियाँ जल-बहाव में चीनी अवरोधों के कारण सूख कर लुप्त होनेवाली हैं। बाकी छह नदियाँ या तो प्रदूषित हैं या जल-बहाव का संकट झेल रही हैं। 1950 में इन दस नदियों पर कुल 22 बाँध हुआ करते थे। चीनी दस्तावेजों के अनुसार सन 2000 तक इन पर 22,000 छोटे-बड़े बाँध या विद्युत् उत्पादन की परियोजनाएं स्थापित की जा चुकी थीं। तिब्बत में हिमनदों (ग्लेशियर)

1951 में तिब्बत की जनसंख्या में तिब्बती 96 प्रतिशत थे, गैर-तिब्बती 4 प्रतिशत। 2000 की जनगणना के अनुसार तिब्बतियों की जनसंख्या कुल 54 लाख थी और गैर-तिब्बतियों की जनसंख्या बढ़कर 78 लाख हो चुकी थी। 21वीं शताब्दी के दो दशकों में भी तिब्बत में गैर-तिब्बती आबादी को बढ़ावा देने की नीति जारी रही है और यह असंतुलन और तिब्बती विरोधी हो चुका है

का इतना बड़ा भंडार रहता आया है कि इसे धरती का तीसरा ध्रुव माना जाता था। यहाँ 46 हजार हिमनद चिन्हित थे जो 1.5 लाख वर्ग किलोमीटर में फैले थे। इनमें से लगभग 9,000 पिघलकर तालाब और झीलों का रूप ले चुके हैं। इनमें से 200 से ज्यादा झीलों ने खतरनाक रूप ले लिया है और इनसे भीषण विनाश की संभावना बढाती जा रही है। इसकी चपेट में तिब्बत के निकटस्थ चीनी, पाकिस्तानी, भारतीय और बांगलादेशी प्रदेश आ सकते हैं। तापमान में 2030 तक 22 डिग्री सेंटीग्रेड से बढ़कर 26 डिग्री सेंटीग्रेड होने का खतरा है। ऐसी स्थिति में लगभग 60 प्रतिशत ग्लेशियर समाप्त हो सकते हैं। घास के अधिकांश मैदानों के रेगिस्तान में बदलने की आशंका बढ़ रही है।

तिब्बत अपने सघन वन क्षेत्रों के कारण विश्व-प्रसिद्ध रहा है। लेकिन 50 प्रतिशत जंगलों को 1998 तक काटा जा चुका था। प्राकृतिक संसाधनों की दृष्टि से तिब्बत में 126 प्रकार के खनिज पदार्थों का भंडार रहा है। 1907 के एक भूगर्भीय सर्वेक्षण के अनुसार तिब्बत में 4 करोड़ टन ताँबा और 4 करोड़ टन जिस्ता का अनुमान था। चीन ने पिछले साठ साल के कब्जे में समूची भू-गर्भ संपदा का बेहिसाब खनन किया है। तिब्बत के कुछ क्षेत्रों को परमाणु कचरे से पाट दिया गया है।

चीन ने तिब्बत का सघन सैन्यकरण कर दिया है। तिब्बत क्षेत्र में लगभग छह लाख सैन्यबल तैनात है। अर्ध-सैनिक बलों की तादाद घटती-बढती रहती है। बीजिंग से भारत के सीमावर्ती क्षेत्रों नेपाल और पाकिस्तान तक रेलवे लाइनें बिछाई जा चुकी है। सड़क मार्ग की दृष्टि से पाकिस्तान, म्यांमार और नेपाल को जोड़ा जा चुका है। तिब्बती क्षेत्र में 16 हवाई अड्डे काम कर रहे हैं जिनका सैनिक इस्तेमाल किया जा सकता है। ऐसे परिवेश में नागरिक आजादी और मानव अधिकारों की कोई गुंजाइश नहीं बची है। जेलों में बंद लोगों के बारे में - पंचेन लामा से लेकर साधारण तिब्बती भिक्षुओं, भिक्षुणियों और नागरिकों के बारे में कोई प्रामाणिक सूचना नहीं है। फिर भी 2012 की एक जानकारी के अनुसार कम से कम 1392 राजनीतिक बंदी तिब्बत की जेलों में बंद रखे जा रहे थे।

चीन ने तिब्बत को उपनिवेश बनाकर अपने सैनिक तंत्र के जरिए तिब्बती लोगों को प्रताड़ित करने में तो सफलता पाई है लेकिन उनकी स्वराज के लिए प्रतिबद्धता कमजोर नहीं कर पाए हैं। इसीलिए इक्कीसवीं शताब्दी में भी तिब्बत के प्रवासियों द्वारा हर साल संयुक्त राष्ट्रसंघ मुख्यालय से लेकर दुनिया के प्रमुख देशों की राजधानियों में 10 मार्च को तिब्बत की आजादी की मांग को लेकर शांतिपूर्ण प्रदर्शन होते हैं

तिब्बतियों का प्रशंसनीय पुरुषार्थ

चीन ने तिब्बत को उपनिवेश बनाकर अपने सैनिक तंत्र के जरिए तिब्बती लोगों को प्रताड़ित करने में तो सफलता पाई है लेकिन उनकी स्वराज के लिए प्रतिबद्धता कमजोर नहीं कर पाए हैं। इसीलिए इक्कीसवीं शताब्दी में भी तिब्बत के प्रवासियों द्वारा हर साल संयुक्त राष्ट्रसंघ मुख्यालय से लेकर दुनिया के प्रमुख देशों की राजधानियों में 10 मार्च को तिब्बत की आजादी की मांग को लेकर शांतिपूर्ण प्रदर्शन होते हैं। दलाई लामा की ओर से तिब्बत दिवस के रूप में होने वाले इन कार्यक्रमों का संदर्भ समझाते हुए विश्व की प्रमुख भाषाओँ में एक वार्षिक संदेश जारी किया जाता है।[5]

तिब्बत मुक्तिसाधना के समर्थकों की विभिन्न देशों में समितियां बढती जा रही है। तिब्बत समर्थक विद्यार्थी मंच भी वैश्विक आकार ले चुका है। तिब्बत समर्थक विश्व संसदीय मंच कई देशों के सांसदों की मदद से बन गया है। भारत के सांसदों में भी 'तिब्बत समर्थक संसदीय मंच' के रूप में इसकी परंपरा बनी हुई है। यह भी महत्वपूर्ण है कि सिवाय बढ़ते अंतरराष्ट्रीय जन समर्थन के, किसी अन्य तात्कालिक सफलता के न मिलने के बावजूद तिब्बत मुक्ति साधना लगातार ज्यादा साहस और त्याग की ओर मुड़ती जा रही है। अब तक प्रतिरोध के प्रदर्शन के लिए शांतिपूर्ण जुलूस, धरना और लंबे क्रमिक उपवासों का आयोजन होता रहा है। इसकी प्रतिक्रिया में चीनी शासकों द्वारा अधिक गिरफ्तारियां, सजा, लोगों को गायब करा देना, और यातनाओं का सिलसिला चलाया गया है।

लेकिन इधर के वर्षों में, 2009 और 2015 के बीच तिब्बती भिक्षु और भिक्षुणियों द्वारा 'तिब्बत की मुक्ति' और 'दलाई लामा की तिब्बत वापसी' के लिए सर्वोच्च बलिदान के रूप में तिब्बत के विभिन्न क्षेत्रों में आत्मदाह की 141 घटनाएँ हुई हैं। इस प्रसंग में संयुक्त राष्ट्र संघ की मानव अधिकार उच्च आयुक्त तक ने चीन को सचेत किया है कि तिब्बत के लोगों द्वारा किए जा रहे इस प्रकार के अभूतपूर्व और असाधारण बलिदान के कारणों से मुंह न चुराए। यह सुझाव दिया गया है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के विभिन्न पर्यवेक्षकों द्वारा अब तक 12 बार दी जा चुकी संस्तुतियों के प्रकाश में निष्पक्ष पर्यवेक्षकों द्वारा कम से कम तिब्बत की यात्रा करने और जमीनी हकीकत के अध्ययन की अनुमति दे।[6] लेकिन चीन का दमन जारी है। क्या यह अद्‌भुत अहिंसक पराक्रम और अविश्वसनीय सर्वोच्च बलिदान व्यर्थ जायेगा? कम से कम इसके बारे में उपनिवेशवाद के विरुद्ध पूरे विश्व में सरोकार और समर्थन के लिए प्रसिद्ध भारत की चुप्पी चिंताजनक है।

वियतनाम युद्ध के दौरान दक्षिण वियतनाम में साठ के दशक में युद्धविरोध के समर्थक भिक्षुओं द्वारा आत्मदाह की कुछ घटनाएँ जरूर हुई थीं और उससे विश्व भर में वियतनाम युद्ध को रोकने के लिए अमरीका पर दबाव बना था। लेकिन तिब्बत की मुक्ति साधना के लिए इतनी बड़ी संख्या में आत्मदाह तो अभूतपूर्व है। यह तिब्बती समाज की गहरी पीड़ा को प्रदर्शित करता है। इसे 'चीन का आंतरिक मामला' कहकर टालना नामुमकिन हो गया है। चीनी क्रूरता की ऐसी चरम अहिंसक प्रतिक्रिया को दुनिया के सामने रखकर तिब्बती बौद्ध साधकों ने सबको चौंका दिया है। चीनी शासकों ने अपनी असफलता को अस्वीकारते हुए इन आत्मदाहों को 'चीन को विखंडित करने की साजिश में जुटे दलाई लामा' का कुचक्र

घोषित करके अपनी कमियों पर पर्दा डालने की शर्मनाक कोशिश जरूर की। लेकिन इसने आग में घी का काम किया और एकदम से कई लामाओं और भिक्षुणियों ने फिर आत्मदाह किया। इससे विचलित होकर स्वयं दलाईलामा को सामने आना पड़ा और आत्मदाह से विरत करने की मार्मिक अपील करनी पड़ी। इससे आत्मदाह तो जरूर रुक गए हैं लेकिन तिब्बत मुक्ति साधना तिब्बत के अंदर और बाहर सघनता की ओर बढ़ चुकी है। क्योंकि प्रवासी तिब्बतियों द्वारा 2018 में एक विश्वस्तरीय समागम के जरिए तिब्बत के पक्ष को दुनिया के सामने बेहतर ढंग से रखने के लिए 'पांच बरस और पचास बरस' की एक कार्ययोजना घोषित की जा चुकी है। यह 1. तत्काल, और 2. तीन पीढ़ियों के कार्यकाल - दोनों ही स्तरों पर ज्यादा व्यवस्थित सक्रियता की योजना है और इस पर दुनिया को ध्यान देना चाहिए।[7]

विस्तारवादी चीन की गलतफहमी

चीनी शासक, हर साम्राज्यवादी देश के शासकों की तरह, 1959 के बाद से ही इस गलतफहमी में रहे हैं कि दलाई लामा को निर्वासन में भेजकर उन्होंने तिब्बत पर अपने कब्जे को टिकाऊ बनाया है और तिब्बती लोगों का आंदोलन समय के साथ हाशिए पर चला जाएगा। तिब्बत में चीनी आबादी की बाढ़ लाकर चौतरफा चीनीकरण का बोलबाला होने से, विशेषकर शिक्षा में तिब्बती की जगह चीनी की अनिवार्यता और तिब्बतियों की चीनियों से शादी को प्रोत्साहित करके एक वर्णसंकर समुदाय बन जाएगा। जिन तिब्बती युवक-युवतियों ने दलाई लामा को देखा ही नहीं और बौद्ध जीवनशैली की बजाय कम्युनिस्ट शिक्षा और अनुशासन में ही सांस ली है उनके लिए तिब्बत की आजादी का क्या अर्थ रहेगा? फिर 85 बरस के हो चुके दलाई लामा भी क्या सौ बरस से ज्यादा जिएंगे? जब उनकी आयु पूरी हो जाएगी तो चीन सरकार अपनी मनमानी करके, पंचेन लामा की तरह, दलाई लामा के उत्तराधिकारी का चयन करेगी और उसके बाद तो तिब्बत की आजादी की लड़ाई और तिब्बत-मुक्ति-साधना का नामो-निशाँ भी नहीं बचेगा।

क्या यह सही अनुमान है? क्योंकि दलाईलामा के उत्तराधिकारी के चयन की सदियों से चली आ रही पारंपरिक व्यवस्था को धर्महीन चीनी सत्ता प्रतिष्ठान द्वारा लांघना तिब्बत के लोगों के लिए स्वीकारना असंभव होगा। क्योंकि परंपरा के अनुसार हर दलाईलामा अपने पुनर्जन्म के बारे में स्वयं निर्देश छोड़ जाते हैं। इसी के समांतर, तिब्बती अस्मिता के व्याकरण में दलाईलामा का केंद्रीय महत्त्व होते हुए भी बौद्ध धर्म, तिब्बती भूगोल, तिब्बती भाषा, तिब्बती संस्कृति और तिब्बती समाज-व्यवस्था का भी योगदान है। इसीलिए तिब्बती लोगों ने दलाई लामा और उनके सहयोगियों के मार्गदर्शन में निर्वासन के लंबे दौर के बावजूद अपने को एक सुगठित और सुव्यवस्थित संस्कृत-धार्मिक समुदाय के रूप में अपनी अस्मिता के सभी आयामों को नई महत्ता के साथ संरक्षित और संवर्धित किया है।

तिब्बती विद्रोह के 60 वर्ष पूरे होने पर धर्मशाला में तिब्बती लोगों का प्रदर्शन

सर्वप्रथम, तिब्बती निर्वासित समुदाय ने अपनी राजनीतिक व्यवस्था को पारंपरिक आधारों से बदलकर जनतांत्रिक बना लिया है। दलाईलामा ने पिछले कई वर्षों से अपने सभी राजनीतिक अधिकार और दायित्व निर्वासित तिब्बतियों के वोट से चुनी संसद या प्रतिनिधि सभा को दे दिए हैं। इस 'संसद' में तिब्बत के सभी संप्रदायों और क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व होता है। एक नवोदित जनतांत्रिक शासन व्यवस्था की तरह प्रवासी तिब्बतियों ने विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका की स्वायत्तता को भी संस्थाबद्ध करना सीख लिया है।

दूसरे, धर्मधारा के अध्ययन-अध्यापन-शोध के अविरल प्रवाह के लिए तिब्बत में आदिकाल से 1959 तक विद्यमान मठों और शिक्षाकेंद्रों को भारत में पुनः संरक्षित-संवर्धित कर लिया गया है। सेरा, गादेन और द्रेपुंग के तीन मठीय विश्वविद्यालयों की कर्नाटक में स्थापना की गई है। साक्य केंद्र और मिन्द्रोलिंग मठ उत्तराखंड के राजपुर और क्लीमेंट टाउन में पुनःस्थापित हो चुका है। कर्मापा का मुख्यालय सिक्किम के रुमटेक में है। बॉन परंपरा का प्रतिनिधित्व जारी रखने के लिए एक केंद्र हिमाचल प्रदेश के डोलानजी में बन गया है। मुन्द्गौड (कर्नाटक), धर्मशाला (हिमाचल प्रदेश), सारनाथ (उत्तर प्रदेश) और लेह (लद्धाख) में बौद्ध विद्या के उच्च अध्ययन केंद्र विश्वस्तर की संस्था बन चुके हैं। इन केंद्रों में तिब्बती रचनाओं का पुस्तकालय, प्रकाशन, और अनुवाद हो रहा है।

तीसरे, तिब्बती इतिहास, साहित्य और भाषा के ज्ञान के संरक्षण के लिए तिब्बती बाल विद्यालयों का भी एक सुव्यवस्थित संगठन है। इसीलिए तिब्बती प्रवासी समाज के स्त्री-पुरुष, 1959 और 2019 के बीच के साठ बरसों में - चार पीढ़ियों के अंदर ही - अपने पुरुषार्थ से दुनिया के सबसे सुशिक्षित 'निर्वासित' या 'शरणार्थी' समुदाय

बन गए हैं। इन विद्यालयों में तिब्बत से भी बच्चे-बच्चियां शिक्षा लेने के लिए आते हैं। तिब्बती प्रवासी न सिर्फ अपने परिवार में और सामुदायिक जीवन में तिब्बती भाषा का इस्तेमाल करते हैं बल्कि परम पावन दलाई लामा अपने सभी सार्वजनिक कार्यक्रमों, विशेषकर कालचक्र अभिषेक से जुड़े एक सप्ताह तक चलने वाले शिक्षासत्रों में अपनी मातृभाषा को प्राथमिकता देते हैं। तिब्बती भाषा में रेडियो और टेलीविजन के दैनिक कार्यक्रमों ने भाषा की रक्षा और प्रवाह को बनाए रखा है।

चौथे, हर तिब्बती प्रवासी समुदाय क्षेत्र में तिब्बती चिकित्सा और ज्योतिष केंद्रों (मेन-त्सी-खांग) की व्यवस्था है। तिब्बती चिकित्सा पद्धति के शिक्षण के लिए ध र्मशाला और सारनाथ में शिक्षाकेंद्र भी कार्यरत है। तिब्बत मित्रों की मदद से तिब्बती चिकित्सा पद्धति का भारत में और दुनिया में स्वागत होने लगा है। सभी हिमालयी प्रदेशों में तिब्बती पद्धति की चिकित्सा को मान्यता मिली हुई है। भारत की राजधानी समेत कई महत्वपूर्ण नगरों में तिब्बती चिकित्सा को सर्वसुलभ बनाने की प्रक्रिया बेहद लोकप्रिय हो चुकी है।

पांचवें, तिब्बती संस्कृति, कला, नृत्य और संगीत के संरक्षण के लिए धर्मशाला में एक विशेष प्रशिक्षण केंद्र का लगातार विस्तार हुआ है। दिल्ली में एक आकर्षक 'तिब्बत हॉउस' भी कार्यरत है जहाँ तिब्बती इतिहास, राजनीति, पर्यावरण और संस्कृति के बारे में नियमित व्याख्यान तथा संवाद आयोजित होता है। तिब्बती भाषा की शिक्षा दी जाती है। एक अच्छा पुस्तकालय और साहित्य केंद्र संचालित होता है।

भारत का अनुभव

भारत का चीन और तिब्बत के बारे में क्या अनुभव रहा है? भारत के लिए तिब्बत देश में ही सर्वाधिक पवित्र तीर्थ कैलाश-मानसरोवर है। इसलिए तिब्बत और तिब्बती भारतीयों के लिए अत्यंत घनिष्ठ हैं। तिब्बती लोग तो सातवीं शताब्दी से भारत को अपना 'गुरु देश' मानते हैं। तिब्बत का धर्म, भाषा, लिपि, व्यापार और संकट-समाधान सभी में भारत की सातवीं शताब्दी से 1959 तक शताब्दियों से निरंतर ऐतिहासिक भूमिका रही है। दलाई

आज भी कम्युनिस्ट विचारधारा के कुछ समर्थक 1962 के भारत-चीन युद्ध और भारतीय जमीन पर चीनी कब्जे के लिए प्रायः नेहरू और कांग्रेस को और कभी-कभी दलाई लामा को दोषी ठहराते हैं। लेकिन उनके पास इस तथ्य का कोई उत्तर नहीं रहता कि चीन द्वारा 1962 के एकतरफा युद्ध-विराम के बाद से भारत के इर्द-गिर्द की घेरेबंदी क्यों जारी है

लामा और उनके साथ निर्वासन में रह रहे तिब्बती तो यह भी स्वीकारते हैं कि उनके तन-मन का अधिकांश तो भारत के ही आतिथ्य से सुरक्षित और संवर्धित हो रहा है। चीन के बौद्ध साधकों के लिए अतीत से ही भारत एक ज्ञानभूमि रही है। बोधगया, सारनाथ, कुशीनगर, नालंदा, तक्षशिला आदि की बार बार यात्राएं चीनी विद्वानों का जरूरी कर्तव्य रहता आया है। व्यापार का भी लंबा इतिहास है। लेकिन समकालीन चीनी नायकों ने 'राष्ट्रवाद', जो कि वस्तुतः साम्राज्यवाद है, को सर्वोपरि माना है। इसीलिए माओ त्से तुंग के नेतृत्व में चीन ने पंचशील समझौते की आठ बरस की अवधि पूरी होते ही 1962 में भारत को भी अपना निशाना बनाया। सीधे भारत की भूमि पर भी सैनिक चढ़ाई करके हमारा राष्ट्रीय आत्मविश्वास खंडित किया और एशिया की वर्चस्वता का दावेदार बन गया।[8]

आज भी कम्युनिस्ट विचारधारा के कुछ समर्थक 1962 के भारत-चीन युद्ध और भारतीय जमीन पर चीनी कब्जे के लिए प्रायः नेहरू और कांग्रेस को और कभी-कभी दलाई लामा को दोषी ठहराते हैं। लेकिन उनके पास इस तथ्य का कोई उत्तर नहीं रहता कि चीन द्वारा 1962 के एकतरफा युद्ध-विराम के बाद से भारत के इर्द-गिर्द की घेरेबंदी क्यों जारी है। इसका पाकिस्तान, श्रीलंका, भूटान और नेपाल की आड़ में भारत को लगातार तनावग्रस्त किए रहना सर्वविदित है। हिन्द महासागर में चीनी नौसैनिक अड्डों का सिलसिला बन गया है। 'एक बेल्ट, एक सड़क' की मायावी योजना से चीन ने सभी छोटे देशों को फांस लिया है और भारत असहाय अकेलेपन के लिए अभिशप्त दीख रहा है।

इन सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि आज भी तिब्बत पर चीन का कब्जा बरकरार है और दुनिया के अधिकांश देश चुप हैं। हर तरफ चीन से व्यापारिक, राजनयिक, सामरिक और बौद्धिक निकटता बनाने की लालसा है। अनेकों नागरिक संगठन और विश्वविद्यालयीय शोध संस्थाएं इसे 'विदेशी राज' की बजाय मानवाधिकार हनन, सांस्कृतिक संहार और प्रकृति-क्षरण की शब्दावली से जोड़ती हैं। यह एक सदियों पुराने राष्ट्र को इक्कीसवीं शताब्दी में भी पूरी दुनिया की उपेक्षा करते हुए गुलामी में बाँध रखने के भयानक सच को वैश्विक राजनीति में राष्ट्र-राज्य की व्यवस्था और औद्योगीकरण में निहित कुछ अनिवार्य दोषों से ढंकने जैसा है। कहाँ एक राष्ट्रीयता का दमन और कहाँ मानवाधिकार, पर्यावरण और सांस्कृतिक अन्याय! जबकि स्वयं चीन ने तिब्बती राष्ट्रीयता की अमिट वास्तविकता को नहीं अनदेखा किया है। इसीलिए 1980-90 के दौरान दलाई लामा के प्रतिनिधियों से संपर्क किया और 8 बार संवाद के लिए प्रतिनिधियों को बुला चुका है। यह अलग बात है कि भारत समेत बाकी दुनिया की चुप्पी से उसकी उद्दंडता में कोई फर्क नहीं है।

तिब्बतियों की अपनी स्मृति में भूगोल के कुछ पक्ष और कुछ तारीखें अमिट हैं। तिब्बतियों को मालूम है कि इस देश के पूर्व में सिंक्यांग, पश्चिम में कश्मीर, उत्तर में हिमालय और दक्षिण में कुनलून पर्वत है। इसका कुल क्षेत्रफल 47,000 वर्गमील से ज्यादा है। यह विश्व का तीसरा हिम-प्रदेश है और एशिया का विराट अक्षय जलस्तंभ है। इसके पठार से पूर्व और उत्तर भारत को जलधारा से संपन्न बनाने वाली नदियों में ब्रह्मपुत्र, सिंधु, सतलज, कर्णाली, संकोसी, और मानस मुख्य हैं। जैसे सुदूर अतीत में तिब्बती सम्राट सोंग्त्सेन गाम्पो के शासनकाल (604-650) में उनकी नेपाली मूल की रानी भृकुति की पहल पर तिब्बत में बुद्ध विचार

को राजकीय संरक्षण देने की शुरुआत हुई। सम्राट गम्पो ने तिब्बती भाषा की लिपि, व्याकरण और वर्णमाला की आवश्यकता को पूरा करने के लिए थोंमी सम्भोटा को भारत भेजा और उन्होंने देव विद्यासिंह के सान्निध्य में रहकर भारतीय भाषाओँ को सीखा। तिब्बत लौटकर भारतीय वर्णमाला के आधार पर वर्तमान तिब्बती वर्णमाला को आकार देना शुरू किया। यही तिब्बत-भारत संबंधों की शुरुआत थी। रामायण, अमरकोश से लेकर नागार्जुन और कमलशील आदि बौद्ध दार्शनिकों की रचनाओं के तिब्बती अनुवाद से इसकी अविरलता बनी। इसे बोधि वृक्ष की दो शाखाओं के रूप में भी सम्मान मिला। बुद्धमार्ग परिचय की एक शताब्दी के अंदर ही 780 से तिब्बत का उत्कर्ष-काल आरंभ हुआ।

समकालीन दौर में, चीन का सैनिक दबाव असह्य होने के बाद तिब्बत के हजारों लोगों ने अपने धर्मगुरु और शासन-प्रमुख दलाईलामा के साथ तिब्बत छोड़कर भारत में 1959 में जरूर शरण ली। लेकिन उनको यह भी याद है कि 1911 में मिंग साम्राज्य के पतन के बाद चीनी शासन ने तिब्बत के साथ हुए अत्याचार के लिए क्षमा मांगी और तिब्बत की स्वतंत्रता को स्वीकार किया था। तिब्बत ने भी 1913 में मंगोलिया और 1914 में ब्रिटिश राज के साथ समझौते किए थे। दुर्भाग्यवश पराधीन होने से यह शरणार्थी तिब्बती आबादी कुछ हजार से बढ़कर एक लाख पचास हजार से ऊपर हो चुके हैं। पराधीनता से पीड़ित तिब्बती स्त्री-पुरुष भारत और नेपाल के साथ ही दुनिया के कई देशों में फैल गए हैं। इस वर्ष 2019 में तिब्बतियों के शरणार्थी जीवन के साठ साल हुए हैं और इनकी पीड़ा का कोई अंत दिखाई नहीं पड़ रहा है क्योंकि चीन का तिब्बत में दमन जारी है। चीनी उपनिवेश के रूप में आपदाग्रस्त तिब्बत में राष्ट्रीय स्वतंत्रता, बौद्ध धर्म, तिब्बती संस्कृति, हिमालयी पर्यावरण और एशिया की जल संपदा का तेजी से विनाश हो रहा है। लेकिन भारत समेत पूरी दुनिया की ओर से कोई उपाय नहीं बन पा रहा है। इस अपार दुख और दमन के क्षण में भी निर्वासित तिब्बती हमारी सरकारी और नागरिक मदद के लिए 'धन्यवाद भारत!' का आयोजन करना नहीं भुलाते हैं।

जब तिब्बत के बाद चीन ने भारत के हिमालयी क्षेत्र को 1962 में अपने विस्तारवाद का निशाना बनाया तो 20 अक्तूबर 62 से 32 दिनों तक चीनी सेनाएं हिमालय के भारतीय हिस्से में लद्दाख से लेकर अरुणाचल और असम तक आक्रमणकारी बनकर बढती चली गईं। भारत के तत्कालीन प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने राष्ट्र के नाम संदेश में असम के हाथ से निकल जाने की आशंका तक जाहिर कर दी थी क्योंकि चीनी सेनाएं तेजपुर शहर तक पहुँच चुकी थीं। तब से आज तक 4000 किलोमीटर लंबी पूरी भारत-चीन सीमा विवादग्रस्त और तनावपूर्ण है। दोनों देशों के बीच 1,35,000 वर्ग किलोमीटर भूमि को लेकर विवाद है। चीन ने पाकिस्तान अधिकृत कश्मीर में 800 वर्ग किलोमीटर जमीन को अपने नियंत्रण में लेकर चीन-पाकिस्तान संपर्क क्षेत्र बना दिया है। चीन-पाकिस्तान की सामरिक साझेदारी ने इस विवाद को और विस्तृत कर दिया है. इस पूरे कथानक को भारत की सत्ता-व्यवस्था, पत्रकारिता, राजनीतिक दलों, सैनिक सेवा, विदेश सेवा और प्रशासनिक सेवा में रह चुके अनेक अनुभवी लोगों ने अनेक दृष्टिकोणों से तथ्यों की छानबीन की है और हमारी नीतियों की दिशाहीनता की आलोचना की है। लेकिन सरकारों के बदलने के बावजूद भारत-चीन-तिब्बत त्रिकोण में चीन की भुजा लगातार लंबी होती चली गई है।[9]

श्री अटलबिहारी वाजपयी के प्रधानमंत्रित्व काल में चीन को रिझाने के लिए एक नया प्रयास हुआ जिसमें हमारी सरकार द्वारा संयुक्त वक्तव्य में 'तिब्बत स्वायत्त क्षेत्र' को 'चीन गणराज्य का अभिन्न अंग' तक मान लिया गया। इसके बदले में चीन ने सिर्फ सिक्किम के भारत में 1976 में हुए विलय को मान्यता दी। तिब्बत की स्वायत्तता के बारे में या चीन के कब्जे में 1962 से फंसी एक लाख वर्गमील भारतीय धरती की कोई चर्चा नहीं हुई। दोनों तरफ से सीमा क्षेत्र के दावे से जुड़े नक्शों का भी आदान-प्रदान नहीं हो पाया है।

फिर डा. मनमोहन सिंह के दस बरस के प्रधानमंत्रित्व में उदारीकरण के बहाने में हमने अपने बाजार को चीन के लिए खोल दिया। सीमा के सवाल पर होंठ सिल लिए। सिक्किम के व्यापार मार्ग के बारे में चीन की उदासीनता की उपेक्षा की। इस सरकार की चीन के बारे में नरमी को कम्युनिस्ट समर्थन था। यह आशा थी कि मुनाफे के महत्त्व को समझते हुए चीन अपने पूंजीवादी पुनर्जन्म के दौर में अपनी कम्युनिस्ट-काल की साम्राज्यवादी प्राथमिकताएं बदलकर भारत की सद्भावना का आदर करेगा। सीमा संबंधी विवाद पर ध्यान देकर हमारे हिमालय क्षेत्र के विकास में हमें सहयोग करेगा। लेकिन चीन की प्राथमिकता सूची में अमरीका के अलावा किसी को जगह नहीं मिली। उसने तो हमें अफ्रीका में अपना प्रतिद्वंदी ही माना।

इधर फिर श्री नरेन्द्र मोदी के नेतृत्व में भाजपा की एक गैर-कांग्रेसी गैर-कम्युनिस्ट सरकार केंद्र में 2014 से शासन की बागडोर संभाले हुए है। 2019 में इसे दुबारा पांच साल के लिए शासन का जनादेश मिला है। इस सरकार ने तिब्बत के स्वराज के दमन के भयानक परिणाम और हमारी जमीन पर आधी शताब्दी से चीनी कब्जे के शर्मनाक सच के प्रति संवेदनशीलता की जरूरत पहचानी थी।

अरुणाचल से लेकर लद्दाख तक नई मुस्तैदी दिखाई। विदेश नीति के चीनी पक्ष के विशेषज्ञ को विदेशमंत्री बनाया गया। तिब्बती निर्वासितों के चुने हुए सर्वोच्च प्रतिनिधि को शपथ ग्रहण समारोह में बुलाया। चीन से संवाद ही सर्वोच्च प्राथमिकता बना दी गई। लेकिन चीन का रुख बेहतर नहीं हुआ है। न आयात-निर्यात असंतुलन में, न हिमालय नीति में, न हिंद महासागर नीति में, न एशिया-प्रशांत क्षेत्र की किलेबंदी में। हमको दोक्लाम के बहाने भूटान-चीन विवाद का तोहफा मिला। 'ब्रिक्स' का मंच नाकामयाब हो गया। 'सार्क' कागजी फूल बना दिया गया। हम चीन की चालबाजी से बचने के लिए अपने आस-पास के 18 देशों के 'मुक्त-व्यापार गठबंधन' से बाहर निकलने को विवश हो गए।

संभवत: इसी सच के दूसरे पहलू के रूप में यह जानने का वक्त आ गया है कि भारत-चीन के रिश्तों में सत्य के स्वीकार के अलावा कोई दूसरा उपाय नहीं है। न नेहरू-इंदिरा की तरह सरहदी इलाके का भूदान, न वाजपेयी की तरह तिब्बत की

उपेक्षा, न मनमोहन सिंह की तरह बाजार के दरवाजे एकतरफा खोलना, न मोदी की तरह कभी नरम कभी गरम। सच यही है कि भारत के शासकवर्ग के लिए हो न हो, भारत के जनसाधारण के लिए और हिमालय के लोगों के लिए तिब्बत की आजादी और भारत की सामरिक-आर्थिक सुरक्षा भी एक-दूसरे के पर्यायवाची हैं। इसलिए यह जांचने का समय आ गया है कि क्या भारत और चीन के बीच समझदारी का रास्ता तिब्बत के स्वराज ('वास्तविक स्वायत्तता') से ही होकर बनाया जा सकेगा? नहीं तो नहीं! दलाईलामा और तिब्बत मुक्ति साधना से जुड़े लोगों का यही सुझाव है। क्या हम 'अति सतर्कता' की ग्रंथि से मुक्ति पा सकते हैं? क्या बगैर छोटे-बड़े पड़ोसियों का अहित किए अपने राष्ट्रीय हितों की रक्षा करने का युगधर्म निभाने के लिए चीन समेत बाकी दुनिया के साथ सार्थक संवाद की पहल कर सकते हैं?

चीन कैसे लगातार विस्तारवादी बना हुआ है?

वैसे भारत और चीन विश्व की दो प्राचीन सभ्यताएं हैं जिसमें दुनिया की 40 प्रतिशत आबादी का निवास है। दोनों इक्कीसवीं शताब्दी की दो प्रमुख आर्थिक शक्तियां भी हैं। चीन ने साम्यवाद के माओवादी मार्ग से अपना नवनिर्माण किया है जिसमें कम्युनिस्ट पार्टी और चीनी सेना की केंद्रीयता है। भारत ने संसदीय लोकतंत्र और मिश्रित अर्थ-व्यवस्था की राह अपनाई है। लेकिन इन दोनों महादेशों के बीच में स्वतंत्र तिब्बत देश के विशाल क्षेत्र की उपस्थिति के कारण 1951-62 के पहले सदियों तक शांतिपूर्ण सहअस्तित्व की स्मृतियां हैं। कोई सामरिक-राजनीतिक तनाव नहीं था। सिर्फ सीमित सांस्कृतिक, धार्मिक और व्यापारिक संपर्क था। इसीलिए आज की जटिल परिस्थिति को देखकर आश्चर्य होना स्वाभाविक है। यह कैसे बिगड़ गया?

वस्तुतः यूरोप महाद्वीप के दो-तिहाई आकार वाले तिब्बत को 1949-1959 के बीच चीनी साम्राज्यवाद का शिकार बनाने के बाद से न सिर्फ हिमालय अशांत बना दिया गया है बल्कि एशिया-प्रशांत महासागर क्षेत्र में अघोषित हथियारी होड़ भी जारी है। पहले चीन ने परमाणु बम बनाया और तिब्बत को मिसाइलों, सामरिक अड्डों, और चीनी सैनिकों के जमावड़े से सदियों से बौद्धमार्गी साधना में जुटे शांतिप्रिय देश से बदलकर सभी पडोसी देशों के लिए एक भयानक चुनौती के रूप में विकृत किया। फिर आत्मरक्षा में भारत ने परमाणु शक्ति में भारी पूंजी निवेश किया। देखादेखी पकिस्तान ने भी परमाणु बम बनाया और भारत की बराबरी में परमाणु अस्त्रों का जखीरा बनाया। इससे हम पड़ोसियों से, विशेषकर चीन-पाकिस्तान गंठजोड़ से बचाव की तैयारी की कीमत पर गरीबी-अशिक्षा-बीमारी की लड़ाई में फिसलते जा रहे हैं।

यह दावा किया जाता है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद से दुनिया अमेरिका-पश्चिमी यूरोप की पहल पर स्वतंत्रता और जनतंत्र की तरफ बढ़ी है। सोवियत संघ के नेतृत्व में कम्युनिस्ट देशों का भी एक खेमा बन रहा था। लेकिन उसके अंतर्विरोध और विश्व पूंजीवाद के दबाव से वह बिखर गया। इस परिवेश में इस तथ्य की अनदेखी कैसे की जाए कि इसी दौर में चीनी साम्राज्यवाद के आतंक का विस्तार भी जारी है। यह शोध का विषय है कि इन दोनों प्रवृत्तियों में क्या संबंध है? चीनी आर्थिकी और सामरिक शक्ति की दुहरी ताकत के आगे दुनिया भर में चुप्पी है। न संयुक्त राष्ट्रसंघ, न यूरोपीय महासंघ, न इस्लामी राष्ट्रसंघ, न राष्ट्रमंडल - चीन के अनैतिक और विस्तारवादी आचरण के बारे में कोई क्यों नहीं बोलता? इस रहस्यमयी वैश्विक चुप्पी के परिणाम भयानक हैं। चीन के शासकों ने अपनी ही नई पीढ़ी को चीन को एक लोकतांत्रिक देश बनाने के सपने को टैंको से रौंद दिया। पूर्वी तुर्किस्तान या सिंक्यांग और मंगोलिया का एक हिस्सा तिब्बत और भारत के हिमालयी सीमा क्षेत्र की तरह अन्यायपूर्ण चीनी कब्जे में फंसा हुआ है।

पूर्वी तुर्किस्तान के लोग उग्युर कहलाते हैं और इस्लाम को मानने वाले हैं। उनके उग्र प्रतिरोध के कारण लंबे समय से चीन के शासकों ने 'मार्शल ला' लगाकर इसे बाकी दुनिया से अलग कर रखा है। बिना किसी ऐतिहासिक आधार के तिब्बत और सिक्यांग को चीन अपने नक्शे में चीन के प्रदेशों के रूप में दिखाता है। भारतीय सीमा क्षेत्र के 1962 से कब्जाए क्षेत्र के नक्शे ही नहीं प्रकाशित करता। कुल मिलाकर चीन के 18 पडोसी देश हैं जिनकी थलसीमा या जलसीमा चीन से मिलती है और अपनी बढती आर्थिक और सामरिक शक्ति के बूते दुनिया की अनदेखी करते हुए चीन का अपने हर पडोसी राष्ट्र के साथ सीमा विवाद है। कुछ को उपनिवेश बना रखा है। भारत, रूस और वियतनाम के साथ हथियारी टकराहटें हो चुकी हैं। भूटान और म्यांमार से लेकर इंडोनेशिया और ताईवान से चीन का विवाद बढ़ता जा रहा है।

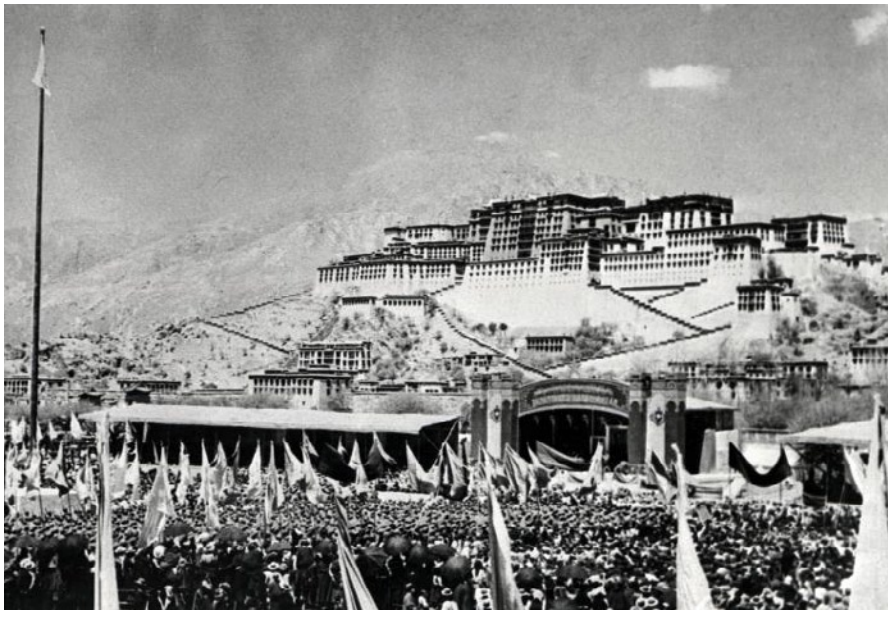

ल्हासा में पोताला पैलेस के सामने चीनी शासन के खिलाफ प्रदर्शन और चीनी सेना द्वारा उसका दमन

तिब्बती समाज की आत्मरक्षा का अविश्वसनीय सच

फिर भी यह सराहनीय है कि वैश्विक वर्चस्व के माहौल में भी चीन के कब्जे से आजादी के लिए तिब्बती आँखों में सपना बना हुआ है। हजारों तिब्बती स्त्री-पुरुष छह दशकों से देश-विदेश में बौद्ध धर्म की मर्यादा का पालन करते हुए दलाई लामा के मार्गदर्शन में तिब्बती अस्मिता की रक्षा और तिब्बत देश की मुक्ति-साधना में लगे हैं। इस निरंतरता में पांच विशिष्टताओं का योगदान है - 1. दलाई लामा का निर्मल नेतृत्व, 2. तिब्बती संस्कृति की गहरी जड़ें, 3. तिब्बती समाज की सक्रिय एकता, 4. चीन द्वारा तिब्बत का निर्मम सांस्कृतिक दमन और प्रकृति का दोहन-शोषण, और 5. भारत समेत दुनिया भर के स्वतंत्रता प्रेमी नागरिकों का बढ़ता तिब्बत-सरोकार।

यह सबको मालूम है कि कम्युनिस्ट चीन की गुलामी की बजाय निर्वासन की राह चुनने वाले तिब्बती समाज की पहली पीढ़ी के स्त्री-पुरुष अब अत्यंत वृद्ध हो चुके हैं। स्वयं दलाई लामा की उम्र 85 बरस है। लेकिन उनका प्रभाव बढ़ता जा रहा है। 1959 तक सिर्फ तिब्बत में सम्मानित दलाई लामा आज छह दशकों के निर्वासन के बावजूद विश्व भर में शांति और करुणा के सबसे महत्वपूर्ण मार्गदर्शक के रूप में मान्य हो गए हैं। क्योंकि वह एक साथ तीन भूमिकाओं में संतुलन बनाए हुए हैं: तिब्बत देशप्रेम, बौद्ध भिक्षु, और विश्व-मानव। इसलिए उनकी तरफ से सार्वभौमिक जिम्मेदारी की कसौटी पर ही तिब्बत मुक्ति-साधना का अभियान चल रहा है। वह तिब्बत का हित तो चाहते हैं लेकिन इसके लिए चीन का अहित नहीं चाहते। न भारत-चीन संबंधों में खटास बढ़ाना चाहते हैं।[10]

इस प्रतिबद्धता के कारण दलाई लामा के नेतृत्व में 1974 से 'पूर्ण स्वतंत्रता' की इतिहास आधारित सत्यता के बावजूद बदलती विश्व-दशा के अनुकूल 'न्यायोचित स्वायत्तता' प्राप्त करने के लिए 'मध्यममार्ग की नीति' विकसित की गई है। इसके आधार पर 1979 में राष्ट्रपति देंगशियो फेंग के वार्ता प्रस्ताव का स्वागत करते हुए समझौता-वार्ता का आरंभ भी संभव हुआ। फिर 1987-89 में तिब्बत में दमन चक्र चलने लगा। 1993 में संधि-वार्ता प्रक्रिया टूट गई और कोई नतीजा नहीं निकला। बाद में 2002 में फिर से संवाद बना। पुन: 2008 में तिब्बत के लोग आंदोलित हुए और दमनचक्र के शिकार बनाए गए। कुल नौ बार वार्ता हो चुकी है। विशेष प्रगति के न होने पर भी तिब्बती प्रवासियों ने 2008-2010 के बीच व्यापक तरीके से इसी रास्ते पर चलने के प्रयास को जारी रखने का अनुमोदन किया। इस नीति का सारांश क्या है? न वर्तमान दुर्दशा को सहन करना, न चीन से राजनीतिक रूप से स्वतंत्र होना। 'मध्यम मार्ग नीति' के परिणामों के मूल्यांकन को लेकर विवाद है। तिब्बती नेतृत्व इसके कम से कम 12 लाभ बताता है।[11] यह 'यूरोपीय संघ' का उदाहरण देते हैं जहां राष्ट्रवाद की बजाय राष्ट्रीय स्वायत्तता के आधार पर राष्ट्रीयताओं के महासंघ की स्थापना के जरिए अस्मिताओं और साझा हितों को एक साथ बढाया जा रहा है। जबकि अनेकों सरोकारी तिब्बती युवा तिब्बत की मुक्ति साधना के पूरा करने के लिए 'रान्जेन' (आजादी) को ही एकमात्र साधन मानते हैं। तिब्बत के भारतीय समर्थकों के संगठनों में भी 'तिब्बत की आजादी-भारत की सुरक्षा' की प्रतिबद्धता है।

उपसंहार

तिब्बत चीनी साम्राज्यवाद का शिकार होने के पहले दुनिया में लगभग अनजान देश था। लेकिन पिछले सात बरसों के विश्वव्यापी अभियानों के कारण तिब्बती संस्कृति के प्रति अपरिचय खत्म हुआ है। विश्व में सम्मान बढ़ रहा है। आध्यात्मिकता से लेकर स्वास्थ्य-संवर्धन की तिब्बती पद्धति और विधियों के प्रति दुनिया की दिलचस्पी बढ़ रही है। भारत समेत दुनिया के अनेकों देशों में तिब्बत के इतिहास, भाषा, दर्शन, भूगोल, पर्यावरण, समाज और संस्कृति का अध्ययन भी होने लगा है।

यह बहुत बड़ी बात है कि निर्वासन में जी रहे तिब्बतियों ने अपनी अस्मिता और अस्तित्व की रक्षा के लिए अनवरत सक्रियता और प्रभावशाली एकजुटता में सफलता पाई है। क्रमश: एक जनतांत्रिक प्रशासन और अनुशासन भी स्थापित किया है। हर प्रमुख देश में प्रवासी तिब्बती प्रशासन की सक्रिय उपस्थिति है। तिब्बती सच को दुनिया के सामने रखने के लिए तिब्बती, हिंदी, अंग्रेजी और चीनी भाषा के सूचना तंत्र की भी सक्रियता है। तिब्बती संसद से लेकर तिब्बती महिला संघ और तिब्बती युवक कांग्रेस के जरिये चार पीढ़ियों के तिब्बती स्त्री-पुरुषों की एकजुटता इस सबका मूल स्रोत है।

भारत समेत दुनिया के स्वतंत्रताप्रेमी नागरिकों में तिब्बत के लिए सरोकार का बढ़ना सबसे आशाजनक परिवर्तन है। यह अभियान 1959 में कलकत्ता में एक नागरिक सम्मेलन आयोजित करके लोकनायक जयप्रकाश नारायण ने शुरू किया। इसके साठ बरस पूरे होने पर तिब्बत-भारत समन्वय केंद्र द्वारा कोलकाता में एक राष्ट्रीय समागम हुआ है। इसे डा. लोहिया की प्रेरणा से साठ के दशक में आयोजित हिमालय बचाओ सम्मेलनों से जनाधार मिला। तिब्बती सहयोग से उनकी जन्म शताब्दी के दौरान हिमालय और तिब्बत के बारे में लोहिया की रचनाओं का एक संकलन पुन: प्रकाशित कराया गया है। फिर जार्ज फर्नांडीज ने अस्सी के दशक में इसकी कमान संभाली। इसके बाद लोकसभा के पूर्व अध्यक्ष रबि राय की अध्यक्षता में भारत तिब्बत मैत्री संघ के रूप में देश के सौ से अधिक जिलों में प्रसार मिला। इधर नई शताब्दी के शुभारंभ के साथ श्री इन्द्रेश कुमार के मार्गदर्शन में हिमालय

भारत समेत दुनिया के स्वतंत्रताप्रेमी नागरिकों में तिब्बत के लिए सरोकार का बढ़ना सबसे आशाजनक परिवर्तन है। यह अभियान 1959 में कलकत्ता में एक नागरिक सम्मेलन आयोजित करके लोकनायक जयप्रकाश नारायण ने शुरू किया। इसके साठ बरस पूरे होने पर तिब्बत-भारत समन्वय केंद्र द्वारा कोलकाता में एक राष्ट्रीय समागम हुआ है। इसे डा. लोहिया की प्रेरणा से साठ के दशक में आयोजित हिमालय बचाओ सम्मेलनों से जनाधार मिला

परिवार के रूप में जन समर्थन की एक उल्लेखनीय नई धारा बन चुकी है।[12] इनकी बढती बहुलता के कारण तिब्बत मुक्ति साधकों ने भारत-तिब्बत समन्वय केंद्र के रूप में एक व्यवस्थित प्रबंध भी बना दिया है।

तिब्बत मुक्ति साधना को, चीन की आर्थिक प्रबलता और सैनिक कठोरता के बावजूद वैश्विक स्तर पर अब तक बिशप टूटू की पहल पर नोबल शांति पुरस्कार विभूषित अनेकों शांतिदूतों से लेकर हजारों अनाम स्त्री-पुरुषों का योगदान मिल चुका है। अमरीका, कनाडा, यूरोपीय यूनियन से लेकर पांच महाद्वीपों के अधिकांश देशों में तिब्बत समर्थकों के राष्ट्रीय संगठन सक्रिय हैं। लेकिन दुनिया तो राष्ट्रों की सरकारों के अंतरराष्ट्रीय संबंधों पर खड़ी है और चीन के लोभ और भय से दुनिया के देशों में चुप्पी टूटने का नाम नहीं ले रही है। क्या तिब्बती 'अत्यधिक आशावाद' और चीन 'अत्यधिक संशयवाद' के कारण इस संकट का समाधान नहीं कर पा रहे हैं? क्या भारत का विदेश नीति प्रतिष्ठान भी 'अत्यधिक सतर्कतावाद' के कारण हाथ पर हाथ धरे बैठा रहा है? इसका उत्तर कौन दे सकता है?

संदर्भ

1. *डा. राममनोहर लोहिया ने तिब्बत पर चीनी कब्जे को 1950 में स्वतंत्र भारत की एक समग्र हिमालय नीति की आवश्यकता प्रतिपादित करते हुए 'शिशु हत्या' बताया था। देखें: आनंद कुमार व मनोज कुमार (संपादक) (2013) 'हिमालय नीति', तिब्बत, हिमालय, भारत, चीन और डा. राममनोहर लोहिया (नयी दिल्ली, अनामिका प्रकाशन) पृष्ठ 29-35*
2. *'चीनी-हिंदी भाई भाई' का नारा देने वाले प्रधानमन्त्री नेहरू तथा विदेशमंत्री कृष्णा मेनन की चीन के प्रति अनुकूलता सर्वविदित तथ्य है. इसके दूरगामी परिणामों का मूल्यांकन आज तक जारी है. भारत के पूर्व विदेश सचिवों ने इस बारे में बार बार उल्लेख किया है. देखें: श्याम सरण (२०१७) 'इण्डिया, चाइना एंड द बार्डर डिस्प्यूट', हाउ इंडिया सीज द वर्ल्ड (नयी दिल्ली, जगरनाट).*
3. *त्रिलोकीनाथ कौल भारतीय विदेश मंत्रालय के वरिष्ठतम अफसरों में से रहे हैं। इन्होंने नेहरू और इंदिरा गांधी दोनों के प्रधानमंत्री काल में विदेश सेवा प्रतिष्ठान में अत्यंत महत्वपूर्ण पदों पर काम किया। इनकी दो पुस्तकें इस प्रसंग में अत्यंत महत्वपूर्ण हैं: डिप्लोमेसी इन पीस एंड वार (नई दिल्ली, विकास, 1979) तथा ए डिप्लोमेट्स डायरी, 1947-99: चाइना, इण्डिया एंड यू.एस.ए. - द तेंतालिजिंग ट्रायंगल (नई दिल्ली, मैकमिलन, 2000)*
4. *सामदोंग रिनपोछे (2015) तिब्बत की मुक्ति-साधना (नई दिल्ली, अनुज्ञा बुक्स, 2015) पृष्ठ 10-15*
5. *इस वार्षिक संदेश के जरिये दलाई लामा द्वारा तिब्बत के दु:ख की पृष्ठभूमि और ताजा स्थिति दोनों को जोड़ते हुए अगले कदम की रूपरेखा दी जाती है।*
6. *'करेंट ह्यूमन राइट्स सिचुएशन इन तिबेट' (यू.एन., ई.यू. एंड ह्यूमन राइट्स डेस्क, सेंट्रल टिबेटन एडमिनिस्ट्रेशन, धर्मशाला) जुलाई, 2015*
7. *प्रवासी तिब्बतियों ने अपने अंतरराष्ट्रीय समर्थक संगठनों की मदद से 2017 से 'तिब्बत - पांच, पचास' की दो स्तरीय कार्ययोजना तैयार की है। इसका संचालन धर्मशाला स्थित केंद्रीय तिब्बती प्रशासन द्वारा किया जा रहा है।*
8. *भारत-चीन युद्ध को भारत और चीन दोनों को निर्दोष बताने वाले अनेकों वृत्तांत हैं। इनमें से नेविल मैक्सवेल (2011) इंडिया'ज चाइना वार (नई दिल्ली, नटराज पब्लिकेशन), ब्रिगेडियर जे. पी. दलवी (2009) हिमालयन ब्लंडर (नई दिल्ली, नटराज पब्लिकेशन), बी.एम.कौल (1977) द अनटोल्ड स्टोरी (नई दिल्ली, एलाइड पब्लिशर्स), जान डब्लू. गार्वर (2004) इंडिया, चाइना, द यू.एस., तिब्बत एंड द ओरिजिंस ऑफ 1962 वार (न्यूयार्क, फ्रांसिस एंड टेलर), जे. आर. सैगल (1979) द अनफॉट वॉर ऑफ 1962: द नेफा डेबाकल (नई दिल्ली, एलाइड पब्लिशर्स) तथा मृणाल तालुकेदार (2014) 1962: सीनों-इंडियन कनफ्लिक्ट (गुवाहाटी, काजीरंगा बुक्स) उल्लेखनीय हैं।*
9. *नब्बे के शुरुआती बरसों में इस प्रसंग पर कई विचारोत्तेजक आलेख आए। जैसे निखिल चक्रवर्ती (हिंदुस्तान टाइम्स, 22 जून 1993); अजित भट्टाचार्जी (पायनियर, 3 मार्च 1995). लेकिन नई आर्थिक नीतियों के दौर में चीन का नया आर्थिक आकर्षण बना। तबसे मीडिया और राजनीति दोनों मोर्चों पर चुप्पी का प्रसार हो रहा है। भारत की लोकसभा तक में आखिरी महत्वपूर्ण चर्चा 1967 में हुई थी।*
10. *दलाई लामा (1996) 'फोरवर्ड', तिब्बत ए सौर्सबुक (संपादक - आनंद कुमार) (नयी दिल्ली, पृष्ठ vii & x*
11. *केन्द्रीय तिब्बती प्रशासन (2013) माध्यम-मार्ग की नीति का स्वरूप, विकास-क्रम तथा परिणाम: एक परिचय (धर्मशाला, सूचना एवं अंतरराष्ट्रीय संपर्क विभाग, केंद्रीय तिब्बती प्रशासन)*
12. *भारत के प्रथम राष्ट्रपति डा. राजेंद्र प्रसाद, उप-प्रधानमंत्री सरदार पटेल, प्रथम कानून मंत्री डा. बाबा साहेब अम्बेडकर, वरिष्ठ स्वतंत्रता सेनानी आचार्य कृपलानी, वरिष्ठ कांग्रेस नेता एस. निजलिंगप्पा, भारतीय जनसंघ के अध्यक्ष डा. रघुवीर, पूर्व विदेशमंत्री एम. सी. छागला, पूर्व प्रधानमंत्री चौधरी चरण सिंह, भारतरत्न नानाजी देशमुख, समाजवादी नेता जार्ज फर्नांडीज, गांधीमार्गी निर्मला देशपांडे, सर्वोदय नेत्री राधा भट्ट से लेकर अब तक के विभिन्न महत्वपूर्ण दलों के अनेकों राष्ट्रीय नेताओं ने तिब्बत के प्रश्न पर देश की नीति में आमूल सुधार को लगातार समर्थन दिया है। इनमें से कई आज भी तिब्बत समर्थक भारतीय संसदीय मंच से भी जुड़े हैं।*

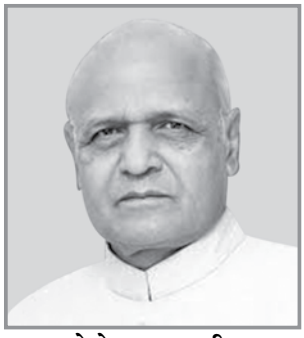

प्रोफेसर भगवती प्रकाश

त्रिविष्टप : विश्व का स्वर्गतुल्य शीर्ष धरातल व नेहरूयुगीन गलतियां-2

मंथन के पिछले अंक में आपने त्रिविष्टप की भौगोलिक-सांस्कृतिक विशिष्टताओं और विश्व में सभ्यता के प्रसार में उसके महत्व के बारे में पढ़ा। उसी लेख का यह दूसरा भाग भारत के लिए उसके सामरिक महत्व को रेखांकित करता है

...गतांक से जारी

यदि भारत ने 1950 में तिब्बत पर पाँच ओर से किए चीन के आक्रमण के अवसर पर तिब्बत की स्वतंत्रता के पक्ष में संयुक्त राष्ट्र संघ में समर्थन दिया होता तो तिब्बत भारत व चीन के बीच एक स्वतंत्र मध्यवर्ती या उभय प्रतिरोधी राज्य या बफर राज्य (Buffer State) के रूप में होता। तब हमारी उत्तरी सीमा पूर्ण सुरक्षित होती। भारत तब 1950 व 1951 में दो वर्षों के लिए सुरक्षा परिषद् का भी सदस्य था। इसलिए भारत तब अत्यंत प्रभावी भूमिका निभा सकता था। चीन तो तब संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य भी नहीं था। उसे सदस्य बनाने की कम्युनिस्ट देशों के बाहर भारत ही चीन का सर्वाधिक समर्थन कर रहा था। अमेरिका तब, चीन से तिब्बत की रक्षा व मुक्ति हेतु तत्पर था। लेकिन, जवाहरलाल नेहरू रूस के प्रभाव में होने और चीन से अनुचित प्रेमवश तिब्बत चीन को उपहार में देने को प्रतिबद्ध लगते थे। इसलिए तिब्बत की स्वाधीनता के रक्षार्थ, तिब्बत की याचिका व अल सल्वाडार के प्रस्ताव पर 24 नवंबर को चर्चा ही नहीं होने दी। परिणामस्वरूप तिब्बत को चीन के साथ 1951 की संधि पर हस्ताक्षर कर अपनी स्वाधीनता खोनी पड़ी। उत्तर कोरिया द्वारा, रूस व चीन के सहयोग से 25 जून 1950 को दक्षिण कोरिया पर किए आक्रमण से जब दक्षिण कोरिया हार के कगार पर पहुँच गया था तब अमेरिका ने संयुक्त राष्ट्र संघ में सुरक्षा परिषद् में प्रस्ताव रखा एवं संयुक्त राष्ट्र समर्थित बहुदेशीय सैन्य हस्तक्षेप से उत्तर कोरिया व चीन की सेना से दक्षिण कोरिया की रक्षा संभव हुई। भारत तब सुरक्षा परिषद् का अस्थाई सदस्य था पर उत्तर कोरियाई व चीनी आक्रमण के विरूद्ध संयुक्त राष्ट्र संघ में आए प्रस्ताव के समय भी चीन का साथ देने हेतु अनुपस्थित रहा था। तब भी वह प्रस्ताव पारित हुआ, दक्षिणी कोरिया की रक्षार्थ अमेरिका के नेतृत्व में संयुक्त राष्ट्र समर्थित संयुक्त सैन्य हस्तक्षेप हुआ व दक्षिण कोरिया की रक्षा संभव हुई।[1] कोरिया की तरह अमेरिका तिब्बत में वैसे ही संयुक्त राष्ट्र समर्थित सैन्य हस्तक्षेप का समर्थक था। चूंकि दक्षिण कोरिया सागर तट पर स्थित था, जहाँ सीधे अमेरिकी सैन्य हस्तक्षेप संभव हो गया था। लेकिन तिब्बत तो भारत व चीन के बीच स्थलरुद्ध (Land Locked) देश होने से तिब्बत मुक्ति हेतु भारत की सहमति आवश्यक थी। उल्टा भारत ने तिब्बत को संयुक्त राष्ट्र में सहयोग वचन से पीछे हटते हुए अमेरिका को भी तिब्बत के मामले में चीन की आलोचना तक से दूर रहने को कह दिया।[2] अन्यथा तिब्बत भी उसी प्रकार एक स्वतंत्र राष्ट्र होता जिस प्रकार दक्षिण कोरिया है। तिब्बती लामा, तिब्बत को भारत का वैसा ही संरक्षित राज्य बनाने के इच्छुक थे जैसे हमने 1949 में भूटान के साथ संधि कर उसके रक्षा व विदेश मामले अपने हाथ में लिए थे।

कई मंत्रियों व विदेश विभाग का विरोध व पटेल के विभाग छीन लेना

अक्टूबर में तिब्बत पर चीन के आक्रमण के समय से ही सरदार पटेल सहित अधिकतर केंद्रीय मंत्री, जयप्रकाश नारायण जैसे कांग्रेस के कई समाजवादी नेता और विदेश मंत्रालय में सेक्रेटरी जनरल, गिरिजा शंकर बाजपेयी सहित विदेश मंत्रालय के अधिकांश अधिकारी संयुक्त राष्ट्र संघ में पूरी तरह से भारत द्वारा तिब्बत का समर्थन किए जाने के पक्ष में थे।[3] प्रधानमंत्री नेहरू द्व ारा चीन का पक्ष लिए जाने पर अचंभित व उद्व ेलित थे क्योंकि, उससे हमारा राष्ट्रहित गंभीर रूप

से प्रभावित हो रहा था। प्रधानमंत्री नेहरू ने विदेश मंत्रालय को प्रभावरहित करने के लिए इस मुद्दे पर विदेश मंत्रालय के महासचिव बाजपेयी सहित शेष अधिकारियों को दरकिनार कर वामपंथ समर्थक और चीन में भारतीय राजदूत के.एम. पन्निकर को सीधे निर्देशित करना आरंभ कर दिया। देशहित के विरुद्ध, प्रधानमंत्री के इस कदम पर चिंतित हो कर सर बाजपेयी ने उप-प्रधानमंत्री सरदार पटेल को सारी जानकारी कराई। इस पर उप-प्रधानमंत्री पटेल ने नेहरू को एक लंबा पत्र 7 नवंबर 1950 को लिखा।[4] असम के राज्यपाल ने भी प्रधानमंत्री को चेताया। प्रधानमंत्री नेहरू द्वारा अचानक पक्ष बदल कर पन्निकर के साथ मिलकर तिब्बत को चीन की आंतरिक समस्या बतलाने पर पटेल चिंतित हो गए। इस अकारण व अचानक पक्ष परिवर्तन पर सरदार पटेल ने देश के गवर्नर-जनरल रह चुके चक्रवर्ती राज गोपालाचारी से चर्चा की। परिणामत: 2 नवंबर को राजाजी व नेहरू के बीच अत्यंत उग्र तकरार हो गई। इस मुद्दे पर सरदार पटेल, देश के गवर्नर जनरल रह चुके राजाजी, रक्षा मंत्री बल्देव सिंह, वित्त मंत्री सी.डी. देशमुख, बाबू जगजीवन राम, श्री प्रकाश (चीन के पड़ोस में स्थित असम राज्य के राज्यपाल) आदि सहित कई प्रमुख मंत्री व विदेश विभाग के अधिकारी देशहित में स्पष्ट रूप से संयुक्त राष्ट्र संघ में तिब्बत का समर्थन किए जाने के पक्ष में थे।[5] केवल गोपालस्वामी (जिन्होंने संविधान सभा में धारा 370 का प्रस्ताव रखा था वे), रफी अहमद व मौलाना आजाद ही प्रधानमंत्री नेहरू के साथ थे। दिसंबर 12 को प्रधानमंत्री नेहरू द्वारा ने सरदार पटेल को सभी मंत्रिमंडलीय दायित्वों से एकतरफा और बिना उनसे कोई चर्चा किए, उनके स्वास्थ्य के नाम पर, मुक्त कर देना भी एक रहस्य ही है।[6] राज्यों का प्रभार गोपालस्वामी को दिया व गृह मंत्रालय नेहरू ने स्वयं अपने अधीन कर लिया था। इससे पटेल अत्यंत विचलित हो गए। संभवत: दिसंबर 15 को इस आघात के अवसाद में ही उनका देहावसान हुआ हो सकता है। देशहित एवं व्यापक लोकतंत्रिक मूल्यों की अनदेखी कर प्रधानमंत्री नेहरू ने एक शांतिपूर्ण भारत-तिब्बत सीमा को अशांत भारत-चीन सीमा में परिवर्तित कर दिया। इस पक्ष परिवर्तन के पीछे कहीं प्रधानमंत्री नेहरू पर रूस का दबाव तो नहीं था क्योंकि नेताजी की मृत्यु वाली हवाई दुर्घटना वास्तव में हुई नहीं थी[7] और तब नेताजी के रूस में होने का कई लोगों का अनुमान रहा है।[8]

21 अक्टूबर, 1950 को चीन ने तिब्बत पर हमला कर दिया था, जिसमें हजारों तिब्बतियों को मौत के घाट उतार दिया गया था।

साभार: https://www.bhaskar.com/news/INT-CHN-chinese-peoples-liberation-army-attack-on-tibet-news-hindi-5444017-PHO.html

तिब्बत से आश्वासन भंग

तिब्बत पर 1950 में पाँच ओर से चीनी सेना के आक्रमण पर तिब्बत ने सर्वप्रथम भारत को अपना सर्वाधिक विश्वसनीय संरक्षक एवं सर्वोत्तम मित्र मानते हुए अक्टूबर 1950 में ही सर्वप्रथम जब भारत से इस विषय को संयुक्त राष्ट्र संघ में उठाने का आग्रह किया[9] जो तब संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य नहीं था। लेकिन, तब नेहरू के कम्युनिस्ट प्रेम व रूस-चीन के दबाव में भारत ने अत्यंत चतुराई से उत्तर दिया कि भारत स्वयं अपनी ओर से कोई प्रस्ताव रखने में असमर्थ है। लेकिन यह भी आश्वासन दिया कि अन्य किसी राष्ट्र द्व ारा तिब्बत की स्वतंत्रता की रक्षा का प्रस्ताव लाने पर वह उसका बिना शर्त पूर्ण समर्थन करेगा। भारत 1950 से 1951 में, दो वर्ष के लिए सुरक्षा परिषद् का सदस्य भी था और चीन संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य भी नहीं था। अंतत: नवंबर 15 को अल साल्वाडोर[10] जैसे अत्यंत छोटे से 22 लाख की जनसंख्या व 21 हजार वर्ग किलोमीटर क्षेत्रफल वाले राष्ट्र ने मानवोचित धर्म निभाते हुए तिब्बत की अपील को सूचीबद्ध करने का प्रस्ताव रखा। तिब्बत से 15000 कि.मी. से भी अधिक दूर स्थित इस मध्य अमेरिकी देश ने तिब्बत का सहयोग किया। लेकिन, निकट पड़ोसी भारत व विश्व के विशालतम लोकतंत्र ने प्रधानमंत्री नेहरू की हठधर्मी के कारण न केवल मित्र व पड़ोसी धर्म से किनारा किया, वरन बाद में तो पक्ष बदल कर तिब्बत की स्वतंत्रता पर चर्चा का विरोध कर अल सल्वाडोर के प्रस्ताव को ही अवरूद्ध कर दिया। इंग्लैंड, तिब्बत की स्वतंत्रता बहाल करने के मुद्दे को संयुक्त राष्ट्र संघ में कानूनी तर्कों से सुलझाने के पक्ष में था।[11] लेकिन, नेहरू ने यह कह कर इंग्लैंड को रोका कि तिब्बत के संबंध में कानूनी तर्कों का कोई औचित्य नहीं है। संयुक्त राष्ट्र की साधारण सभा केवल दोनों देशों से शांतिपूर्ण समाधान का आवाहन मात्र कर दे। आक्रमण पीड़ित तिब्बत तो शांत ही था। उससे क्या अशांति संभव थी? अमेरिका

तो हर कीमत पर और जैसे भी संभव हो तिब्बत की स्वतंत्रता की रक्षा का पक्षधर था। लेकिन, वह भौगोलिक व ऐतिहासिक कारणों से तिब्बत की स्वतंत्रता की रक्षा के मामले पर भारत का सहयोग अनिवार्य मानता था।[12] दुर्भाग्यवश जवाहरलाल नेहरू ने तिब्बत को अक्टूबर में दिए इस आश्वासन तक संयुक्त राष्ट्र संघ में कि, किसी अन्य देश द्वारा प्रस्ताव लाने पर तिब्बत का पक्ष लेगा, को 24 नवंबर को भंग कर तिब्बत के प्रस्ताव पर चर्चा भी नहीं होने दी। चर्चा के लिए प्रस्ताव आने पर सर्वथा विपरीत मत व्यक्त कर चर्चा ही नहीं होने दी। संयुक्त राष्ट्र में भारतीय प्रतिनिधि से प्रधानमंत्री नेहरू ने यह मत दिला दिया कि "भारत सरकार का यह निश्चित मत है कि तिब्बत की स्वायत्तता का प्रश्न आपसी शांतिपूर्ण वार्ता से ही हल हो जाएगा''।[13],[14] अंतत: चीन ने जवाहरलाल नेहरू के अप्रत्याशित सहयोग से तिब्बत को मई 1951 में ऐसा समझौता करने को बाध्य कर लिया। जिससे तिब्बत पर सदा के लिए चीन का अधिकार हो गया और 4057 कि.मी. लंबी शांत भारत-तिब्बत सीमा पर चीन को आमंत्रित कर उस सीमा को देश के लिए सर्वाधिक असुरक्षित कर लिया।

संदर्भ:

1. *https://satyagrah.scroll.in/article/14124/korean-war-and-role-of-india*
2. *http://www.indiandefencereview.com/news/tibet-the-international-betrayal/0/*
3. *https://www.deccanchronicle.com/opinion/op-ed/081118/patel-nehru-rift-over-tibet-china-was-deep.html*
4. *https://www.deccanchronicle.com/opinion/op-ed/081118/patel-nehru-rift-over-tibet-china-was-deep.html*
5. *https://www.deccanchronicle.com/opinion/op-ed/081118/patel-nehru-rift-over-tibet-china-was-deep.html*
6. *https://www.dailymail.co.uk/indiahome/indianews/article-5055805/Why-Patel-strongly-opposed-Nehru-s-suicidal-policy.html*
7. *https://hindi.oneindia.com/news/features/netaji-subhas-chandra-bose-death-controversy-how-to-solve-418644.html*
8. *https://economictimes.indiatimes.com/news/politics-and-nation/was-netaji-subhas-chandra-bose-in-russia-till-1968/articleshow/53148364.cms?from=mdr*
9. *R.S. Kalba, Tibet as factor in Sino-Indian Relations Past and Present journal of Defence Studies, Vol.6,No.4,October 2012 pp.7-12 https://idsa.in/jds/6_4_2012_TibetasaFactorinSino-IndianRelationsPastandPresent_RSKalha*
10. *http://www.indiandefencereview.com/news/tibet-the-international-betrayal/0/*
11. *वही*
12. *वही*
13. *वही*
14. *वही*

टांग्रा युम्को : एक पवित्र झील

तिब्बत की पवित्र मानी जाने वाली झीलों में एक टांग्रा युम्को झील है। बॉन परंपरा से जुड़े लोग इसकी पूजा करते हैं। यह तिब्बत की तीसरी सबसे बड़ी झील है। इसका क्षेत्रफल 1400 वर्ग किलोमीटर है। लंबाई में 70 किलोमीटर और चौड़ाई में 20 किलोमीटर तक फैली इस झील की समुद्रतल से ऊँचाई 4600 मीटर है। इस क्षेत्र की आबादी बहुत मामूली है। तिब्बत की लोककथाओं तथा लोकगीतों में बहुत बार इसका जिक्र आता है और दंतकथाओं में इसे तिब्बत के पवित्रतम स्थानों में एक बताया गया है।

लोककथा है कि प्राचीनकाल में वेनबू जिले से दागुओ पर्वत के देवता उच्च कोटि के तिब्बती जौ के बीज मांगने के लिए द्विलोंग आए। स्थानीय देवता उनके किसी आचरण से रुष्ट हो गए और वे उनके पीछे दौड़ पड़े। इसके चलते उन्हें कई मुश्किलों का सामना करना पड़ा। फिर भी वे जौ के कुछ दाने ले जाने में सफल हो गए और उन्हें ले जाकर अपनी पत्नी टांग्रा युम्को को दिया। टांग्रा युम्को ने अपने स्तनों से उन दानों को पोषण दिया और उनकी सिंचाई की। तबसे इस झील की पूजा की जाती है। वेंबू का सांपा जौ तिब्बत के सबसे स्वादिष्ट खाद्य पदार्थों में गिना जाता है। ■

क्लॉड अर्पी

पंचशील: वरदान या अभिशाप?

तिब्बत विशेषज्ञ क्लॉड अर्पी ने अलग-अलग समय पर पंचशील विषयक दो लेख लिखे। पहला पंचशील की पचासवीं वर्षगांठ पर 2004 और दूसरा इसकी साठवीं वर्षगांठ पर 2014 में। दोनों लेखों की एक समेकित प्रस्तुति

आज भारत और चीन, 'चीन के तिब्बत क्षेत्र और भारत के बीच व्यापार और पारस्परिक संबंध संधि' लागू होने की 50वीं वर्षगांठ मना रहे हैं। यह समझौता 'पंचशील संधि' के नाम् से प्रसिद्ध है। क्या इसमें उत्सव मनाने की कोई बात है? यह सवाल तो पूछा ही जाना चाहिए, पर इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि 1954 की घटनाओं से भारत और तिब्बत के संबंधों में एक नए युग का सूत्रपात होता है।

समय आ गया है कि हम उन कठिन वर्षों के इतिहास पर एक नजर डालें और देखें कि क्या कुछ पुरानी गांठों को खोलने से नई संभावनाओं के लिए रास्ता खुल सकता है?

मामले की शुरुआत होती है आज से लगभग सौ साल पहले 1904 में। एक युवा ब्रिटिश कर्नल फ्रांसिस यंगहसबैंड किसी तरह से ल्हासा के पवित्र शहर में प्रवेश कर गए। आज तो 'सभ्यताओं के संघर्ष' की बात करने का फैशन है। परंतु इस स्थिति में सत्य यह था कि दो अलग-अलग संसारों का साक्षात्कार पहली बार हो रहा था। तिब्बत की राजधानी में अपने निवास के अंतिम दिनों में यंगहसबैंड ने तिब्बतियों को शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य के साथ प्रथम संधि करने के लिए मजबूर कर दिया। इस संधि पर हस्ताक्षर करने से लंदन स्थित ब्रिटिश सरकार ने तिब्बत को एक अलग राष्ट्र के रूप में मान्यता दे दी। परंतु राजनीतिक समझौते इतने आसान थोड़ी होते हैं! तिब्बत के पश्चिमी पड़ोसी चीन को इस बात को लेकर अत्यंत क्षोभ था कि इस संधि को लेकर उससे कोई बात नहीं की गई थी। ऊपर से लॉर्ड कर्जन तिब्बत पर चीन के आधिपत्य को संवैधानिक कपोलकल्पना के अतिरिक्त कुछ नहीं मानते थे।

दस साल बात मार्च 1914 में स्वयं को न्याय का पक्षधर दिखाने के लिए ब्रिटिश सरकार ने एक त्रिपक्षीय सम्मेलन का आयोजन किया जिसमें मामले को सुलझाने के लिए पहली बार तीन प्रमुख पक्षकारों को आमने-सामने बिठा कर बात करवाई गई। परिणाम पूरी तरह से संतोषजनक नहीं रहे क्योंकि चीन ने केवल मुख्य दस्तावेज पर हस्ताक्षर किए, इसे स्वीकार नहीं किया। परंतु ब्रिटिश और तिब्बती सरकारों ने मानचित्र पर एक साझा सीमारेखा को स्वीकृति दे दी। इस तरह से प्रसिद्ध मैकमोहन रेखा अस्तित्व में आई।

अगस्त 1947 में भारत आजाद हुआ तो तब भी यह संधि प्रभावी थी।

परंतु अक्तूबर 1950 में एक घटना हुई जिसने हिमालय के क्षेत्र की नियति को ही बदल दिया, माओ की सेनाएं तिब्बत में घुस आईं।

ल्हासा ने चीनी आक्रमण के विरुद्ध संयुक्त राष्ट्र संघ में अपील की। यद्यपि भारत ने तिब्बत की स्वायत्तता (नेहरू के शब्दों में लगभग स्वतंत्रता) को मान्यता दे दी थी, फिर भी वामपंथी चीन की ताकत के सामने वह डगमगाने लगा और अपने शांतिप्रिय पड़ोसी के पक्ष में खड़ा न हो सका।

मई 1951 में दलाई लामा के कुछ प्रतिनिधियों ने 'दबाव में आकर' वामपंथी चीन के साथ एक सत्रह सूत्रीय संधि पर हस्ताक्षर किए। 2,000 वर्षों के इतिहास में ऐसा पहली बार हुआ कि ल्हासा ने आधिकारिक तौर पर स्वीकार किया कि तिब्बत चीन का हिस्सा है। परंतु तिब्बती राष्ट्र के चीन में समावेश को भारत ने तत्काल मान्यता नहीं दी। लगभग दो वर्षों तक भारत ल्हासा में एक पूरा ही दूतावास चलाता रहा।

अप्रैल 29, 1954 को भारत और चीन के बीच पंचशील संधि पर हस्ताक्षर हुए। यह

घटनाओं की इस शृंखला की अंतिम कड़ी थी जिनका आरंभ यंगहसबैंड के तिब्बत से हुआ था।

जबकि इस ब्रिटिश अभियान के परिणामस्वरूप तिब्बत को एक अलग इकाई के रूप में स्वीकृति मिल गई, संधि पर हस्ताक्षर करने से एक विशिष्ट राष्ट्र के रूप में इसके अस्तित्व का अंत हो गया। हिमभूमि कहलाने वाला पृथ्वी का यह भाग मात्र 'चीन का तिब्बती क्षेत्र' होकर रह गया। तिब्बत की अस्मिता ही खो गई। भारत और समूचे हिमालय क्षेत्र पर इसके दूरगामी प्रभाव पड़े। सबसे बड़ी विडंबना तो यह थी कि तिब्बतियों को इसकी सूचना भी नहीं दी गई कि संधि के दौरान क्या बातचीत हुई थी।

संधि की प्रस्तावना में वे पांच सिद्धांत मौजूद थे जो अगले पांच वर्षों तक भारत की विदेश नीति के आधारस्तंभ रहे। भारत की 'हिन्दी चीनी भाई-भाई' और 'गुट निरपेक्षता' की नीति को इन्हीं पांच सिद्धांतों ने आधार दिया।

एक बड़ी त्रासदी तो यह है कि इस संधि को भारत और तिब्बत के बीच व्यापार से संबंधित इसकी विषय-वस्तु के लिए नहीं अपितु इसकी प्रस्तावना के लिए ही याद किया जाता है, जिसने सीधे ही एक प्राचीन, आध्यात्मिक जीवनपद्धति (जो बाह्य स्तर पर पिछड़ी हुई परंतु आध्यात्मिक स्तर पर उन्नत थी) को नष्ट कर दिया। दूसरा दुर्भाग्य यह है कि पांच आदर्श सिद्धांत बस सिद्धांत ही रह गए। चीन ने कभी उनका सम्मान ही नहीं किया। दूसरे के मामलों में हस्तक्षेप न करना और पड़ोसी की क्षेत्रीय अखंडता का सम्मान करना पांच में से दो सिद्धांत हैं परंतु संधि पर हस्ताक्षर के मात्र तीन माह के बाद भारतीय क्षेत्र में चीनी घुसपैठ आरंभ हो गई।

इस संधि से संसार की छत पर चीनी सेना के नियंत्रण के रास्ते खुल गए। नेफा और लद्दाख में भारतीय सीमा तक पहुंचाने वाली सड़कें और हवाई पट्टियां बनाई गई।

नेहरू और उनके परामर्शदाताओं को 'क्रांतिकारी' चीन से मोहब्बत होती चली गई थी और चीन के साथ इस नए-नए भाईचारे की झोंक में तिब्बत का बलिदान कर दिया गया। इस उदारता से भारत को कोई लाभ नहीं हुआ। उलटे उसे एक शांतिप्रिय मित्र और पड़ोसी को खोना पड़ा।

आठ ही वर्षों के बाद ये सिद्धांत इस हद तक हवा हो गए कि दो एशियाई दिग्गजों ने हिमालय के पर्वतों में एक युद्ध ही लड़ लिया।

पंचशील संधि के दो भाग है: प्रस्तावना (पांच सिद्धांत) और विषय-वस्तु (भारत और तिब्बत के बीच व्यापार और भारतीयों और तिब्बतियों के तीर्थयात्रा के अधिकारों से संबंधित)। परंतु महत्व इस संधि के शीर्षक का है: 'चीन के तिब्बत क्षेत्र और भारत के बीच व्यापार और पारस्परिक संबंध संधि'। यह शीर्षक ही बीजिंग की जीत दर्शाता था। यंगहसबैंड के ल्हासा में प्रवेश के बाद पहली बार भारत ने मान लिया था कि तिब्बत 'चीन के एक क्षेत्र' के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

इस संधि का एकमात्र उद्देश्य भारत और तिब्बत के बीच व्यापार एवं तीर्थयात्रा का नियमन था। इसने तिब्बत में प्रवेश के लिए कुछ बिंदु चिन्हित किए थे: "दोनों देशों के व्यापारी और तीर्थयात्री इन मार्गों एवं दर्रों से आवागमन कर सकेंगे: शिपकिला, माना, नीति, कुंगरी बिंगरी, दर्मा और लिपुलेख दर्रे। इनमें से हिमाचल प्रदेश में स्थित पहले को छोड़कर अन्य सभी दर्रे आज के उत्तराखंड में हैं। इससे भी रोचक बात जो इसके अनुच्छेद प्ट में उल्लिखित है: "सिंधु नदी की घाटी के साथ-साथ ताशिगॉङ्ग जाने वाला परंपरागत मार्ग भी परंपरा के अनुसारे पारगमन के लिए चालू रहेगा।"

इसका आशय डेमचोक होते हुए लद्दाख मार्ग से है, जिसका उपयोग कैलाश मानसरोवर जाने वाले भारतीय तीर्थयात्री शताब्दियों से करते आ रहे थे। आज इसकी सीमा चुंगी बंद है। अब चीन इसे फिर से खोलने से हठपूर्वक मना क्यों कर रहा है? शायद इसलिए कि लद्दाख के पहले गाँव डेमचोक को अब चीन ने कब्जा लिया है!

अपने पहले प्रधानमंत्री की आदर्शवादी नीति के चलते भारत को भारी कीमत चुकानी पड़ी और आज पचास बरस बाद भी चुका रहा है। इसका कारण यह संधि ही है जो किसी भी स्थिति में जून 1962 में समाप्त हो चुकी है।

नेहरू आधुनिक अशोक बनना चाहते थे। संसार की समस्याओं को सुलझाने के लिए वे हिंसा और भय का उपयोग नहीं करना चाहते थे। सम्राट अशोक की प्रशंसा करते हुए वे भूल गए थे कि अशोक के शिलालेख तो बचे रहे पर इसका साम्राज्य न बच पाया। अशोक की मृत्यु के बाद सत्तर वर्षों से कम समय में प्राचीन भारत का महानतम साम्राज्य भरभरा कर ढह गया। चाहे कोई इसे दुर्भाग्य माने पर यह जीवन का अटल सत्य है कि कुछ बाह्य मूल्यों की सुरक्षा के लिए सत्ता और शक्ति अनिवार्य होते हैं। इस बात को सरदार पटेल भलीभांति समझते थे परंतु वे 1950 में ही गुजर गए। वे जीवित होते तो तिब्बती राष्ट्र को समाप्त करने वाली पंचशील संधि पर हस्ताक्षर ही न हुए होते।

आज जबकि पंचशील संधि पर हस्ताक्षर हुए पचास परस हो चुके हैं हम केवल यह उम्मीद कर सकते हैं कि नई पीढ़ी के भारतीय नेता संधि में बताए गए सिद्धांतों को अपने राजनीतिक जीवन में उतारेंगे, लेकिन साथ ही उनमें इतनी अंतर्दृष्टि भी होगी कि वे भारत सचमुच शक्तिशाली और आत्मनिर्भर देश बनाने के लिए मजबूती से कदम उठा सकें। इस संधि के अनेक त्रासद परिणाम हुए। कुछ ही समय पहले हमने ब्रह्मपुत्र नदी पर प्रस्तावित बांध और इसके बहाव को मोड़ने के विषय में लिखा था। ऐसा तभी संभव हो सकता है जब तिब्बत

इस संधि का एकमात्र उद्देश्य भारत और तिब्बत के बीच व्यापार एवं तीर्थयात्रा का नियमन था। इसने तिब्बत में प्रवेश के लिए कुछ बिंदु चिन्हित किए थे: "दोनों देशों के व्यापारी और तीर्थयात्री इन मार्गों एवं दर्रों से आवागमन कर सकेंगे: शिपकिला, माना, नीति, कुंगरी बिंगरी, दर्मा और लिपुलेख दर्रे। इनमें से हिमाचल प्रदेश में स्थित पहले को छोड़कर अन्य सभी दर्रे आज के उत्तराखंड में हैं

के लोग अपने ही देश में हो रही घटनाओं को लेकर मुंह बंद रखने के लिए मजबूर हों। यद्यपि इस संधि की प्रस्तावना (पांच सिद्धांत) और संधि में दिए गए प्रस्ताव आज बिल्कुल भी लागू नहीं हैं, फिर भी यह सत्य है कि तिब्बत को चीन का हिस्सा मान लिया गया है।

संधि पर हस्ताक्षर करने का एक अन्य विनाशकारी परिणाम यह हुआ है कि नेहरू के कुछ सलाहकारों ने तिब्बत पर भारत का अधिकार (शिमला सम्मेलन से प्राप्त) छोड़ने की एवज में तिब्बत और भारत के बीच सीमा के उपयुक्त सीमांकन का सौदा करने से इन्कार कर दिया। ये अधिकारी मानते थे कि इस प्रकार के लाभ साम्राज्यवादी विरासत का हिस्सा हैं और नवस्वाधीन भारत को ऐसे लाभों से परहेज करना चाहिए।

1951 और 1954 के बीच बीजिंग के साथ जो वार्ताएं हुईं, उनमें चीन में भारत के राजदूत के. एस पणिक्कर और उनके साथियों ने बड़ी चालाकी से सीमा के प्रश्न पर बहस को टाल दिया। उनका तर्क था कि यदि चीनी वार्ताकार सीमा के मुद्दे पर असहमत होंगे तो वे स्वयं ही इस पर बहस की शुरुआत करेंगे। पर भारत की यह चालाकी किसी काम नहीं आई। संधि पर हस्ताक्षर होने के बाद चाउ एन लाई ने वार्ताकारों को बधाई दी कि जो समस्याएं सुलझाई जानी थीं वे सुलझा ली गई हैं।

1954 में हुई इस संधि के कुछ परिच्छेद अच्छे भी हैं; यथा, "दोनों देशों के सीमावर्ती जिलों के ऐसे निवासी जो अपने छोटे-मोटे व्यापार या मित्रों अथवा रिश्तेदारों से मिलने-जुलने के लिए सीमा पार करेंगे, वे एक-दूसरे के सीमावर्ती जिलों में आ-जा सकेंगे... और इसके लिए उन्हें किसी पासपोर्ट, वीजा या परमिट की आवश्यकता नहीं होगी।"

असल में हमारे हिमालयी क्षेत्र और तिब्बत के बीच शताब्दियों से ऐसा ही चलता आ रहा था, भारत और तिब्बत पड़ोसी और मित्र थे। लेकिन अपने मूल आत्मतत्व के अर्थ में इस संधि का अनुपालन कभी हुआ ही नहीं, जिसके त्रासद दुष्परिणाम भारत (और तिब्बत) को भुगतने पड़े।

अब विशेषज्ञ लोग इसके महान सिद्धांतों पर लंबे-लंबे भाषण चाहे जितने दे लें, सच यह है कि यह संधि 52 वर्ष पहले ही (2014 तक के अनुसार) समाप्त हो चुकी है। इस संधि का एक विनाशकारी परिणाम यह हुआ कि भारत सरकार इस अवसर का अपने हित में समझौते का पलड़ा झुकाने का कोई उपयोग नहीं कर सकी, खासकर सीमाओं के ठीक तरह से अंकन के निमित्त। पचास बरस बाद यह नीतिगत त्रुटि अभी भी भारत को इस सीमा तक जकड़े हुए है कि सीमा की समस्याओं को सुलझा ही नहीं पा रहा है।

जून 2003 में प्रधानमंत्री अटल जी ने सीमा विवाद को सुलझाने के मुद्दे को लेकर बीजिंग के साथ द्रुतगामी कदम उठाने पर बल दिया। तो क्या यह माना जाए कि सीमा-विवाद सुलझने का समय आ गया है?

साभार : *http://claudearpi.blogspot.in/*

पंचशील: एक परिचय

29 अप्रैल सन् 1954 ई. को तिब्बत से व्यापार एवं तीर्थयात्रा संबंधी भारत-चीन समझौते में सर्वप्रथम जिन पाँच सिद्धांतों को आधारभूत मानकर संधि की गई, कूटनीति की दुनिया में वही पंचशील के नाम से मान्य है। पंचशील शब्द ऐतिहासिक बौद्ध अभिलेखों से लिया गया है जो कि बौद्ध भिक्षुओं का व्यवहार निर्धारित करने वाले पाँच निषेध होते हैं। भारत के पहले प्रधानमंत्री पंडित जवाहर लाल नेहरू ने वहीं से यह शब्द लिया था। बौद्ध भिक्षुओं के लिए पंचशील निम्नवत हैं:

1. हत्या न करना 2. चोरी न करना 3. व्यभिचार न करना 4. असत्य न बोलना 5. मद्यपान न करना

भारत-चीन समझौते की प्रस्तावना के रूप में पंचशील की मान्यता एशियाई-अफ्रीकी और बाद में अंतरराष्ट्रीय राजनीति में विभिन्न राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था वाले देशों में मैत्री तथा सहयोग का आधार बनी। 25 जून 1954 को चीन के प्रधान मंत्री श्री चाऊ एन लाई भारत की राजकीय यात्रा पर आए और उनकी यात्रा की समाप्ति पर जो संयुक्त विज्ञप्ति प्रकाशित हुई उसमें घोषणा की गई कि वे पंचशील के पाँच सिद्धांतों का परिपालन करेंगे। मानव कल्याण तथा विश्वशांति के आदर्शों की स्थापना के लिए विभिन्न राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था वाले देशों के बीच पारस्परिक सहयोग के निमित्त ये पाँच आधारभूत सिद्धांत हैं:

(1) एक दूसरे की प्रादेशिक अखंडता और प्रभुसत्ता का सम्मान करना
(2) एक दूसरे के विरुद्ध आक्रामक कार्यवाही न करना
(3) एक दूसरे के आंतरिक विषयों में हस्तक्षेप न करना
(4) समानता और परस्पर लाभ की नीति का पालन करना तथा
(5) शांतिपूर्ण सह अस्तित्व की नीति में विश्वास रखना।

दोनों प्रधानमंत्रियों ने अंतरराष्ट्रीय व्यवहार और सहअस्तित्व के आवश्यक सिद्धांतों के रूप में पंचशील के सिद्धांतों की व्यापक घोषणा एवं मान्यता की। लेकिन फिर सन 1962 में चीन द्वारा भारत पर आक्रमण से इस संधि की मूल भावना को अपूरणीय क्षति पहुँची। ■

प्राचीन भारत की लुप्त पांडुलिपियों का पुनर्जन्म

विजय क्रान्ति

तिब्बत की संस्कृति के सृजन में जितना महत्वपूर्ण योगदान भारत का है, भारत की सांस्कृतिक धरोहरों को सहेजने में उससे कम योगदान तिब्बत का नहीं है। संस्कृति के प्रति ऐसा लगाव मामूली बात नहीं है कि तिब्बती लोगों ने अपने घरों से चलते समय धन-संपदा नहीं, पुस्तकें सहेजने का प्रयास किया। इनमें कई ऐसी पांडुलिपियां हैं जिन्हें अगर तिब्बती अनुवादों के रूप में संरक्षित न किया गया होता तो नालंदा विध्वंस के बाद उन्हें दुबारा पाने का हमारे पास कोई रास्ता नहीं होता

सन् 1951 में चीन का तिब्बत पर कब्जा और तदनंतर सन् 1959 में उसके आध्यात्मिक गुरु व शासक दलाई लामा के पलायन कर भारत में निर्वासन बीती सदी में हुए द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विश्व इतिहास की सर्वाधिक दुखद घटनाओं में से एक थी। किंतु, अधिकांश अन्य त्रासद घटनाओं की तरह ही इस घटना के कुछ परिणाम हुए, जो ईश्वरीय वरदान सिद्ध हुए। परम पूज्य गुरु दलाई लामा के नेतृत्व में भारत में तिब्बती शरणार्थियों के आगमन और प्रवास का एक उल्लेखनीय परिणाम भारत की परंपरागत संस्कृति के कई महत्वपूर्ण पहलुओं का पुनरुत्थान है, जिनके बारे में माना जाता था कि वे हमेशा के लिए लुप्त हो गए, या नष्ट अथवा लुप्त होने की कगार पर थे।

प्राचीन भारतीय साहित्य एक ऐसा ही पक्ष है, जिसकी बीती सदियों में विदेशी आक्रांताओं के आक्रमणों और अन्य घटनाओं के कारण भारी क्षति हुई। सन् 1193 ई. में तुर्की के मुसलमान आक्रमणकारी मुहम्मद बख्तियार खिलजी का नालंदा विश्वविद्यालय में तोड़फोड़ करना और उसे आग के हवाले करना सर्वाधिक विनाशकारी घटना थी। पुस्तकालयों और विद्वानों के घरों में रखी असंख्य ऐतिहासिक एवं महत्वपूर्ण पांडुलिपियों को आग लगा दी गई, जिसके बारे में कहा जाता है कि उससे तीन महीनों से अधिक समय तक धुआँ निकलता रहा।

इस दुर्भाग्यपूर्ण घटना के पूर्व नालंदा ने स्वयं को संसार के महानतम शिक्षा केंद्रों में से एक के रूप में स्थापित कर लिया था, जहाँ सुदूर यूनान, फारस, तिब्बत, चीन और कई दक्षिण पूर्व एशियाई तथा दक्षिण एशियाई देशों के विद्वान आते और वर्षों तक रहते तथा अध्ययन करते थे। भारत के महान विद्वानों के मार्गदर्शन में इन देशों के विद्वानों ने कई विषयों का अध्ययन किया। भारतीय साहित्य का अपनी-अपनी भाषाओं में अनुवाद किया और उसे घर ले गए। इस प्रकार बौद्ध साहित्य अनेक देशों तक पहुँचा और उन देशों में बुद्ध के संदेश के प्रसार में सहायता की। इनमें से कई अनुवाद कार्य आज भी इनमें से कई देशों में सुरक्षित हैं।

फारसी इतिहासकार मिन्हाज-ई-सिराज, जिसने अपने ग्रंथ तबकत-ई-नसीरी में नालंदा को जलाए जाने का उल्लेख किया है, के अनुसार, "बौद्ध धर्म को नेस्तनाबूद करने पर आमादा खिलजी ने हजारों महंतों को जीवित जला दिया और हजारों के सिर काट लिए।....." पुस्तकालय महीनों तक जलाया जाता रहा और "जलते पुस्तकालयों से धुआँ कई महीनों तक निकलता रहा।....."[1]

आगे चल कर कुछ बचे-खुचे विद्वानों ने विश्वविद्यालय का पुनरुद्धार करने के कुछ प्रयास किए किंतु उसे उसका खोया हुआ प्रताप फिर कभी नहीं मिल पाया। सन् 1235 में इस स्थल के दौरे पर आए चाग लोत्सावा (1197-1264) के अनुसार उसने तुर्की इस्लामी आक्रमणकारियों के एक और आक्रमण को देखा था, जिसमें शेष बचे छात्रों को विवशत: भाग जाना पड़ा। इतिहासकार डी. सी. अहीर अपनी पुस्तक 'बुद्धिज्म डिक्लाइंड इन इंडिया: हाउ एंड ह्वाई?' में लिखते हैं कि "नालंदा और उत्तर भारत के मंदिरों, मठों, शिक्षा केंद्रों के विनाश के कारण गणित, खगोल, रस विद्या और शरीर रचना विज्ञान के प्राचीन भारतीय

वैज्ञानिक चिंतन का लोप हो गया।"[2]

विदेशियों के एक के बाद एक आक्रमणों के चलते भारत को जिस उत्पात का सामना करना पड़ा, उसके कारण भी सांस्कृतिक क्षति की भरपाई का कोई उपयुक्त परिवेश नहीं बन सका। फलस्वरूप, भारत में सदियों से संचित साहित्य का एक विशाल अंश हमेशा के लिए नष्ट हो गया।

नालंदा के अंतिम शासक शाक्यश्रीभद्र ने सन् 1204 में तिब्बती अनुवादक त्रोपू लोत्सावा (खो-फू लो-त्सा-बा बियाम्स-पा द्पाल) के आमंत्रण पर तिब्बत की यात्रा की। तिब्बत में, जीवित बचे उक्त दो को पूरा करने के ध्येय से उसने मूलसर्वास्तिवाद की एक दीक्षा वंश आरंभ किया।

भारतीय साहित्य का एक शीतागार

सौभाग्यवश, तिब्बती अनुवादों के रूप में इस साहित्य का एक बड़ा अंश तिब्बत में जीवित था। इतिहास के पन्नों में झाँकें, तो आज ऐसा प्रतीत होता है कि तिब्बत ने यथार्थत: इस लुप्त मानवीय धरोहर के एक बड़े अंश को बचाए रखने के लिए एक उत्कृष्ट शीतागार के रूप में कार्य किया। सन् 1951 में तिब्बत पर चीन के कब्जे और तदनंतर सन् 1959 में इसके शासक व धार्मिक गुरु दलाई लामा के भारत आगमन के बाद ही विद्वानों का ध्यान इस अमूल्य भंडार की ओर गया।

दुर्भाग्यवश, चीन अधिकृत तिब्बत में, विशेष रूप से 'आगे की ओर बड़ा कदम - दी ग्रेट लीप फॉरवर्ड' (सन् 1958 से 1962 तक) और 'सांस्कृतिक क्रांति' (सन् 1966 से 1976 तक) जो क्रमश: 1958 से 1976 तक चलते रहे, के दौरान हुई घटनाओं में समस्त तिब्बत में प्रचंड सांस्कृतिक विध्वंस हुआ। यह तिब्बत के इतिहास का एक अभूतपूर्व अध्याय था। ज्यादातर विहार (मठ) या तो नष्ट हो गए या फिर चीन और चीन की साम्यवादी पार्टी की सेना ने उन्हें अपने कब्जे में ले लिया। बहुमूल्य पुस्तकों का उपयोग कब्जा करने वाले पीएलए के सैनिकों, कम्युनिस्ट कार्यकर्ताओं और उनके पशुओं के भोजन पकाने और कड़ाके की सर्दी में उनके कमरों को गर्म रखने के लिए ईंधन के रूप में किया जाता था। सन् 1987 में संयुक्त राज्य के सिनेट और कांग्रेस के समक्ष प्रस्तुत विवरणों की मानें, तो चीन

दलाई लामा का निर्वासन क्यों और कैसे?

आखिर वे कौन सी और कैसी स्थितियां थीं कि दलाई लामा को जन और धन सब छोड़कर निर्वासित होने के लिए मजबूर होना पड़ा और वे किस तरह तिब्बत के दुरूह मार्गों को पार कर भारत पहुँचे...

वर्ष 1959 में दलाई लामा का पलायन एक ऐसा सनसनीखेज समाचार था जिसने पूरे विश्व को अवाक कर दिया था और लगभग एक पखवाड़े तक आशंकाओं में बनाए रखा। वह 17 मार्च 1959 की रात थी जब बलपूर्वक हथियाए हुए तिब्बत के सर्वोच्च धार्मिक नेता एवं नाममात्र के शासक 14वें दलाई लामा, 25 वर्षीय तेनजिन ग्यात्सो तिब्बत की राजधानी ल्हासा के नोर्बुलिंगका महल में अपने घर से अंधेरी रात में भारत भाग गए। यह अत्यंत ही जटिल कार्य था क्योंकि स्थितियां बहुत ही तेजी से बदल रही थीं, और चीन की पीपल्स रिपब्लिक आर्मी उन्हें जीवित या मृत किसी भी स्थिति में पकड़ने के लिए निकली हुई थी। उनके पलायन की सफलता और विफलता के बीच जो अंतर था वह उतना ही महीन था जितना कि स्वतंत्र राज्य रहित शरण ार्थी और एक सुनहरे पिंजरे में किसी तोते या जीवन और मृत्यु के बीच हो सकता था।

खाली वादे

तिब्बत में चीजें वर्ष 1951 से ही बिगड़ रही थीं जब से चीन ने बीजिंग में अपनी मनमानी शर्तों पर तिब्बती प्रतिनिधिमंडल को हस्ताक्षर करने के लिए बाध्य कर दिया था। इस प्रकार 17 बिंदु अनुबंध पर चीन और तिब्बत के मध्य हस्ताक्षर हुए जिसमें उन्होंने पूरे विश्व के सम्मुख यह घोषणा की कि तिब्बत सहर्ष अपनी मातृभूमि अर्थात चीन गणराज्य में वापस आने के लिए तैयार है। यह एक ऐसा कठिन मामला था जिसमें ल्हासा सरकार ने बाद में दावा किया कि चीन में उसके उस प्रतिनिधिमंडल ने दबाव में हस्ताक्षर किए जिसे यह करने का अधिकार ही नहीं था। यद्यपि उस समझौते में तिब्बत की सरकार और उसके नागरिकों को यह वादा किया था और आश्वासन दिया गया था कि चीनी शासन के अंतर्गत भी तिब्बत की सामाजिक और सांस्कृतिक प्रणाली में किसी भी प्रकार का कोई भी हस्तक्षेप नहीं किया जाएगा। इसने तिब्बत को यह भी आश्वासन दिया कि चीन की कम्युनिस्ट पार्टी और उसकी पीएलए कभी भी तिब्बत के नागरिकों से कुछ भी मुफ्त में नहीं लेगी और वह जो भी तिब्बत से लेंगे, उसकी एक एक पाई चुकाएंगे।

परंतु आठ वर्षों में चीजें बहुत ही तेजी से बदलीं और इतनी बुरी हो गईं कि सामान्य होने के उनके सारे रास्ते बंद हो गए। चीनी पीएलए और सीपीसी कैडर तिब्बत में घुसे और उन्होंने सभी का नियंत्रण अपने हाथों में ले लिया और चीजें उसी दिशा में चली गईं जो अनुबंध में किए गए वादे से एकदम अलग थीं। उदाहरण के लिए, दलाई लामा और उनके कशंग (मंत्रिमंडल) के निर्णय लेने की शक्ति को सीपीसी की "प्रिपरिटी समिति" ने एकदम कम कर दिया जिसका गठन तिब्बत की प्रशासनिक प्रणाली को पुनर्व्यवस्थित करने के लिए किया गया था। कम्युनिस्ट कैडर और पीएलए के सैनिकों के भारी संख्या में तिब्बत की व्यवस्था में प्रवेश के बाद तिब्बत के मकान मालिकों को किराया और दुकानदारों को वस्तुओं के मूल्य का भुगतान खास तौर से ढाली गई चांदी की मुद्रा 'दा युआन' के रूप में किया जाने लगा।

के इस अत्याचार में 1.2 लाख से अधिक लोगों की जान गई और कुल 6259 बुद्ध विहारों और मंदिरों में से 6254 को ध्वस्त कर दिया गया।

धर्म गुरु दलाई लामा की सोच और विचारपूर्ण नेतृत्व में पलायन कर रहे मठवासी और विद्वान अपने साथ अधिकांश साहित्य ले गए और समुदाय के पलायन के संताप से मुक्त होने के बाद उन्होंने उन्हें फिर से संगठित किया। सौभाग्यवश, पिछले 60 वर्षों में यह अभियान इतना सफल रहा है कि भारत विश्व में आज तिब्बती संस्कृति के विशालतम आगार के रूप में उभरा है।

तिब्बती भाषा के संस्कृत स्रोत

इन अनुवादों की मात्रा और गुणवत्ता दोनों अर्थों में तिब्बत की स्थिति विशिष्ट रही है। इसका मुख्य श्रेय स्रोंगसेन गोंपो (604-650 ई.) और त्रिसोंग देत्सेन (742-797 ई.) जैसे तिब्बती राजाओं के ज्ञान को जाता है जिन्होंने तिब्बत के शिक्षकों और बौद्ध ग्रंथों के मूल स्रोत के रूप में भारत का चयन करने और तिब्बती लिपि के विकास के लिए मूल भाषा के रूप में संस्कृत तथा बौद्ध और अन्य साहित्य के अनुवाद के लिए तिब्बती (भोटी) भाषा को अपनाने का दोहरा निर्णय लिया। यह निर्णय उन्होंने इस तथ्य के बावजूद लिया कि उसी बौद्ध विद्या और भौगोलिक दृष्टि से तिब्बत से सुगम्य व भारत की तुलना में अधिक अनुकूल जलवायु के अतिरिक्त लाभ वाला उनका दूसरा पड़ोसी चीन एक वैकल्पिक स्रोत हो सकता था।

तिब्बत आगमन से बहुत पहले भारत से बौद्ध धर्म का प्रवेश चीन में हो चुका था और कुछ चीनी विद्वान तथा अनुवादित ग्रंथ वहाँ पहले से ही उपलब्ध थे। किंतु, उसके विद्वानों के लिए हिमाच्छादित हिमालयी पर्वतों की कठिन और दुर्गम यात्रा और भारत में अति उष्ण व प्रतिकूल वातावरण के बावजूद, इन राजाओं ने विद्वानों को नालंदा जैसे विश्वविद्यालयों में भेजने और भारत से उच्च कोटि के विद्वानों जैसे आचार्य शांतरक्षित और गुरु पद्मसंभव को तिब्बत आने का आमंत्रण भेजने का निर्णय लिया क्योंकि वे बौद्ध धर्म का कोई 'निष्कलुष' रूप चाहते थे।

इसने दृढ आदेश और नि:शुल्क खाद्य आपूर्ति की माँग के लिए रास्ता खोला।

मूल्यवृद्धि और कमी

बड़ी संख्या में लोगों के आने से खाद्य सामग्रियों की मांग में इतनी अधिक वृद्धि हो गई जिसका तिब्बतियों को कोई अनुमान ही नहीं था, क्योंकि उनकी अपनी जनसंख्या तो काफी कम थी। आवश्यक वस्तुओं की उपलब्धता और चीनी अफसरों की ओर से आने वाली मांग के बीच जो अंतर था उसने इतनी महंगाई और चीजों की कमी पैदा कर दी जिसे तिब्बत के नागरिकों ने अभी तक अनुभव ही नहीं किया था। दैनिक आवश्यकताओं की वस्तुओं में इतनी ज्यादा और तेजी से वृद्धि ने साधारण नागरिकों और चीनी लोगों के बीच लगातार संघर्ष उत्पन्न किया।

उसके उपरांत कम्युनिस्ट कार्यकर्ताओं और सैन्य अधिकारियों ने स्थानीय मठों पर जबरन अधिकार किया तथा वरिष्ठ एवं कनिष्ठ भिक्षुओं के साथ उनके द्वारा किए गए अपमानजनक व्यवहार ने पूरे क्षेत्र में तनाव में वृद्धि ही की। कई मामलों में वरिष्ठ भिक्षुओं को चीनियों द्वारा हिरासत में लिया गया और उनमें से कई जनता को कुछ पता चले बिना ही गायब हो गए।

सशस्त्र विद्रोह

भूमि सुधारों के नाम पर मठों और स्थानीय मकान मालिकों से वृहद् स्तर पर भूमि हड़पी गई और भूमि के धारण की जो पुनर्व्यवस्था हुई, उसने कई संघर्षों को जन्म दिया। कई बार खूनी संघर्ष भी हुए। कई मामलों में स्थानीय आक्रोश ने सशस्त्र विद्रोह का रूप लिया जो वर्ष 1956 तक आमदो और खाम के पूर्वी प्रांतों तक फैल गया। कई स्थानीय और आदिवासी जमींदारों ने भी शु-शी-गांग-ड्क (जिसका अर्थ है चार नदियाँ छ सीमाएं - तिब्बत का एक परंपरागत संदर्भ) के अंतर्गत एक आयोजित छापामार विद्रोह का गठन करने के लिए हाथ मिला लिया। कई ऐसे अवसर भी आए जब चीनी सेना की चौकियों पर इन लोगों ने छापा मारा और चीनी सैनिक और कार्यकर्ता मार डाले गए। कई क्षेत्रों में तिब्बतियों और चीनियों के बीच जो संघर्ष हुए उसके कारण पीएलए ने स्थानीय मठों पर बमबारी करने के लिए विस्फोटकों का प्रयोग किया। कुछ मामलों में तो इसने पूरे के पूरे मठों को नष्ट करने के लिए हवाई हमले किए जहां पर भारी संख्या में लामा और उनके छापामार योद्धा अपनी तैयारी करते थे।

स्थितियों में उबाल वर्ष 1959 के आरंभ में ल्हासा में वार्षिक मोनलम प्रार्थना उत्सव के दौरान आया, जिसमें पूरे तिब्बत से हजारों की संख्या में लोग आते थे। यह वह समारोह था जिसमें एक माह में ल्हासा की मुट्ठी भर जनसंख्या में काफी वृद्धि हो जाती थी। उस वर्ष वह सैकड़ों हजार हो गई। माहौल पूरे तिब्बत से साझा की जा रही चीनी अधिकारियों द्वारा किए जा रहे अत्याचारों और लोगों के विद्रोह के समाचारों के कारण उत्तेजित हो गया था।

संगीतमय संकट

अचानक ही चीनी जनरल द्वारा दलाई लामा को पीएलए गढ़ के अंदर एक संगीतमय समारोह में उपस्थित होने के लिए आमंत्रित किए जाने की खबर ने वातावरण को और उत्तेजना से भर दिया। चीजें तब और खराब हो गई जब महल के मुखबिरों ने यह सूचना दी कि जनरल यह चाहते हैं कि दलाई

कम्युनिस्ट कार्यकर्ताओं और सैन्य अधिकारियों ने स्थानीय मठों पर जबरन अधिकार किया तथा वरिष्ठ एवं कनिष्ठ भिक्षुओं के साथ उनके द्वारा किए गए अपमानजनक व्यवहार ने पूरे क्षेत्र में तनाव में वृद्धि ही की। कई मामलों में वरिष्ठ भिक्षुओं को चीनियों द्वारा हिरासत में लिया गया और उनमें से कई जनता को कुछ पता चले बिना ही गायब हो गए

लामा महल में निशस्त्र और अपने परंपरागत सशस्त्र रक्षकों के बिना आएं।

जनता के बीच हुए इस हल्ले ने बहुत ही जल्द 10 मार्च को एक सार्वजनिक प्रदर्शन का रूप ले लिया जिसने मांग की कि दलाई लामा को चीनी निमंत्रण को स्वीकार नहीं करना चाहिए। महल से कोई भी आश्वासन न मिलने के कारण प्रदर्शनकारियों ने महल का घेरा बना लिया और नोर्बुलिन्का महल के द्वार पर चौबीसों घंटे पहरेदारी करने लगे। वह यह सुनिश्चित करना चाहते थे कि दलाई लामा को चीनी सेना के गढ़ में न ले जाया जाए। माहौल में पहले से ही कई कहानियां चल रही थीं। कुछ सही, कुछ गलत तो कुछ मनगढ़ंत, और कई वरिष्ठ भिक्षुक भी एक के बाद एक करके चीन में या तो ले जाए जा रहे थे या फिर गायब हो चुके थे।

उग्र विद्रोह

दूसरी ओर चीनी जनरल यह सुनिश्चित करने के लिए पागल हुआ जा रहा था कि दलाई लामा उस दिन आयोजित किए जा रहे समारोह में जरूर आएं। उसने महल के पास इकट्ठे हुए प्रदर्शनकारियों को हटाने के लिए हर संभव कदम उठाए। मगर इससे लोग भड़क गए और ज्यादा से ज्यादा लोग महल के बाहर इकट्ठा हो गए। 16 मार्च तक चीनी जनरल ने अधिकतर पीएलए अधिकारियों को मोर्टार बंदूकों सहित ल्हासा के आसपास के इलाकों से शहर में बुला लिया। इसे देखकर भीड़ ने दलाई लामा की सेना के गढ़ में जाने की हर संभावना को बाधित कर दिया, और यह देखकर पीएलए की सेना ने 17 की दोपहर मोर्टार बम दागकर भीड़ को तितर बितर करना चाहा। सभी बम महल की दीवार के पास जाकर फूटे। जनरल भीड़ को भयभीत करना चाहता था। मगर इसका असर उलटा हुआ। संदेश यह गया कि चीनी सेना नोर्बुलिंग्का महल को नष्ट करना चाहती है और दलाई लामा को मारना चाहती है। इससे प्रदर्शनकारियों के बीच गुस्सा और भड़का और इससे भीड़ और इकट्ठा हुई।

महल के अंदर दलाई लामा और उनके सहायक कुछ सोच में थे। उनमें से कुछ उस संगीत समारोह में जाने के एकदम विरुद्ध थे तो वहीं कुछ लोग इसके लिए सहमत थे। परंतु दलाई लामा इस संकट से बाहर निकलने का कुछ बीच का रास्ता खोज रहे थे। अपनी आत्मकथाओं 'माई लैंड, माई पीपल' और 'फ्रीडम इन एक्जाइल' में दलाई लामा लिखते हैं कि उन्होंने चीनी जनरल को यह आश्वासन दिया था कि वह समारोह में शामिल होना चाहते हैं मगर इसके साथ ही वह यह भी चाहते हैं कि इस समारोह को कुछ समय तक टाला जाए जब तक कि यह सारा प्रदर्शन समाप्त न हो जाए। मगर जनरल के बम गोले दागने के इस निर्णय ने दलाई लामा और उनके सलाहकारों के उस भरोसे और उम्मीद को समाप्त कर दिया जो वह एक शांतिपूर्ण तरीके से हल खोजने के बारे में रखे हुए थे। पूरी कैबिनेट ने यह निर्णय लिया कि अब दलाई लामा के लिए संभव नहीं है कि वह नोर्बुलिंग्का में और रुक सकें। यह निर्णय लिया गया कि उन्हें चीनी सेना की पहुँच से जितना ज्यादा हो सके, उतना दूर पहुंचाना चाहिए। और सबसे सुरक्षित स्थान था भारत। यह तय किया गया कि उन्हें भारतीय सीमाओं के पास किसी जगह जाना चाहिए जिससे वह भविष्य के बारे में सही निर्णय ले सकें।

पलायन

उसी रात, दलाई लामा और उनके परिवार के लोग तथा कुछ महत्वपूर्ण अधिकारी तेजी से महल से छोटे छोटे समूहों में बाहर निकले और शहर के दूसरे कोने पर क्यिछु नदी पर दक्षिण किनारे पर एक उचित जगह पर इकट्ठे हुए। इस कदम को पूरी तरह से गोपनीय रखते हुए और किसी भे तरह के संदेह से बचने के लिए दलाई लामा को एक तिब्बती सैनिक के वस्त्र पहनाए गए, जो उस समय सुरक्षा दायित्वों के लिए दलाई लामा की रक्षा के लिए नियुक्त हुआ करता था। चीनी सैनिकों की आँखों के नीचे से उस तीन किलोमीटर के रास्ते से बचकर निकलना एक बड़ी चुनौती थी। परंतु सौभाग्य से उस रात हवाएं ठंडी थीं, जिसके कारण चीनी सैनिक अपने टेंट में ही रहे।

मगर याक के चमड़े की बनी एक

इन राजाओं और तिब्बती विद्वानों ने संस्कृत लिपि और व्याकरण का आधार लेकर तिब्बती भाषा का विकास करने में अतिरिक्त बुद्धिमत्ता से काम लिया ताकि विषयवस्तु की सामग्री तथा शब्दावली व वाक्य रचना दोनों में भारतीय साहित्य का उसके सर्वाधिक प्रामाणिक रूप में अनुवाद हो सके। इस कार्य के पीछे मुख्य तर्क यह था कि उस समय के तिब्बती नेतागण नहीं चाहते थे कि तिब्बत के विद्वान भारत की यात्रा में आने वाली घोर कठिनाई का खतरा मोल लें या भारत के विश्वविद्यालयों में बौद्ध धर्म की शिक्षा ग्रहण करने हेतु आगे बढ़ने से पहले संस्कृत सीखने में अपनी युवावस्था के बहुमूल्य वर्ष बर्बाद करें। संस्कृत से तिब्बती में अनुवाद के वैज्ञानिक नियमों के विकास के फलस्वरूप प्रामाणिक भारतीय साहित्य के एक विशाल भंडार का विकास हुआ जो आज विश्व की किसी भी अन्य भाषा में उपलब्ध नहीं है। ये विषय बौद्ध धर्म तक ही सीमित नहीं हैं बल्कि इनमें उस युग में प्रचलित आयुर्वेद चिकित्सा एवं औषधि विज्ञान, खगोल गणित, रस विद्या, शरीर रचना विज्ञान आदि भी शामिल हैं।

अनुवादों की वैज्ञानिक प्रणाली

अनुवाद के इस कार्य में प्रयुक्त कार्य-प्रणाली पूर्णत: तर्कसम्मत और वैज्ञानिक थी। उदाहरण के लिए, किसी ऐसे तिब्बती विद्वान को संस्कृत साहित्य का तिब्बती में अनुवाद करने की अनुमति नहीं होती थी, जिसकी सहायता के लिए उसकी टोली के सदस्य के रूप में भारत का कोई संस्कृत का पंडित (विद्वान) नहीं हो। अनुवाद के प्रत्येक कार्य के पूरा होने के बाद, तिब्बती में अध्ययन के लिए उसे स्वीकार किए जाने

संस्कृत से तिब्बती में अनुवाद के वैज्ञानिक नियमों के विकास के फलस्वरूप प्रामाणिक भारतीय साहित्य के एक विशाल भंडार का विकास हुआ जो आज विश्व की किसी भी अन्य भाषा में उपलब्ध नहीं है

यह मानव इतिहास की विरलतम घटनाओं में से एक था जब चीनी सेना और चीन की कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा किए गए नरसंहार के बीच अपने घरों और देश से भागे शरणार्थी अन्य चीजों को छोड़ भारी संख्या में बहुमूल्य पुस्तकें ले गए हों

से पहले संबद्ध विषय के विद्वानों की एक विशेष रूप से चयनित परिषद (समिति) उस अनुवाद की शुद्धता का सत्यापन करती थी। आज कई सदियों के बाद इस नीति के कुछ उल्लेखनीय परिणाम सामने आए हैं।

यह मानव इतिहास की विरलतम घटनाओं में से एक था जब चीनी सेना और चीन की कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा किए गए नरसंहार के बीच अपने घरों और देश से भागे शरणार्थी अन्य चीजों को छोड़ भारी संख्या में बहुमूल्य पुस्तकें ले गए हों। भारी बर्फ और पहाड़ों के रास्ते किसी लंबी और कष्टप्रद यात्रा में कोई व्यक्ति जितनी धार्मिक पांडुलिपियां ढो कर ले जा सकता था, उतनी ये तिब्बती, विशेष रूप से मठाधीश और विद्वान अपने साथ ले गए, जिनकी पलायन करने वाले तिब्बतियों में बहुत बड़ी संख्या थी।

मुट्ठी भर मठवासी समुदाय की विद्वत्तापूर्ण खोज

तिब्बती समाज के पुस्तक प्रेम और शिक्षा की सुदीर्घ परंपरा तथा धार्मिक ग्रंथों के सुव्यवस्थित संरक्षण के मद्देनजर, भारत में तिब्बती शरणार्थी समुदाय को अनेकानेक संस्थानों पर गर्व हो सकता है, जो शिक्षण, विद्वत्तापूर्ण अध्ययन, शोध और पुस्तक प्रकाशन के कार्य में लगे हैं। कई लोगों को यह आश्चर्यजनक लग सकता है कि मात्र 150 हजार शरणार्थियों के एक सूक्ष्म समुदाय ने भारत में प्रायः सभी विहारों और उच्चतर शिक्षा केंद्रों को सफलतापूर्वक पुनरुज्जीवित किया है, जो सन् 1951 में चीन द्वारा नष्ट किए जाने के पहले तिब्बत में सदियों तक फलते-फूलते रहे थे। आज तिब्बती शरणार्थी समुदाय को भारत में ऐसे कम से कम दो संस्थानों पर, उनमें दी जा रही शिक्षा एवं परंपरागत तिब्बती नाव 'कु-द्रु' में नदी की दूसरी ओर पहुंचना बहुत बड़ी चुनौती थी क्योंकि चप्पू चलाने से पैदा हुई किसी भी आवाज पर चीनी सैनिकों की मशीन गनें गोलियां बरसा सकती थीं। जैसे ही वह दूसरी ओर सुरक्षित तरीके से पहुँच गए तो बाकी कारवाँ घोड़ों और खच्चरों से आगे बढ़ा। उनका एकमात्र लक्ष्य था कि सूरज के उगने से पहले छे-ला दर्रे और सिंगपो (ब्रह्मपुत्र) नदी को पार करना, जिससे अंतिम चीनी चौकी भी काफी पीछे छूट जाए। उस समय सिंगपो के दूसरे किनारे पर एक क्षेत्र था जहां पर छु शी गैंग द्रुक (जुसे छुगैंग कहा जाता था) छापामार रहा करते थे, जहाँ पर पीएलए केवल खास ही मौकों पर आ सकती थी या कुछ खास निरीक्षण ही कर सकती थी।

लम्बी यात्रा

परंतु छे-ला की यात्रा काफी सीधी और कठिन थी और उसके साथ ही वहां पर चीनी सैनिकों का भी खतरा था, जो जरा सी भी भनक पड़ते ही कुत्ते की तरह टूट पड़ते। वह ऊपर के दर्रे तक तो सुरक्षित पहुँच गए मगर उनका सामना एक धूल के भीषण तूफान से हुआ जो छे-ला में प्रायः आता ही रहता है। धूल और हवा से अधिक घोड़ों को नियंत्रण में रखना महत्वपूर्ण था और यही सबसे बड़ी समस्या थी क्योंकि एक भयभीत घोडा न केवल खुद को नुकसान पहुंचा सकता है अपितु अपने सवार को भी खाई में गिरा सकता है। सौभाग्य से तूफान जल्दी ही समाप्त हुआ और बिना किसी दुर्घटना के। अगला लक्ष्य था पहाड़ी पार करते हुए सिंगपो नदी की दूसरी ओर पहुंचना।

जैसे ही वह लोग सिंगपो नदी पार कर के आगे बढ़े वह अपेक्षाकृत सुरक्षित स्थान पर थे जहाँ पर छुगैंग के सशस्त्र स्वतंत्रता सेनानी अपने स्मार्ट घोड़ों और बंदूकों के साथ उस क्षेत्र पर कब्जा बनाए हुए थे। बचाव दल की रात रा-मे मठ में थोड़ी

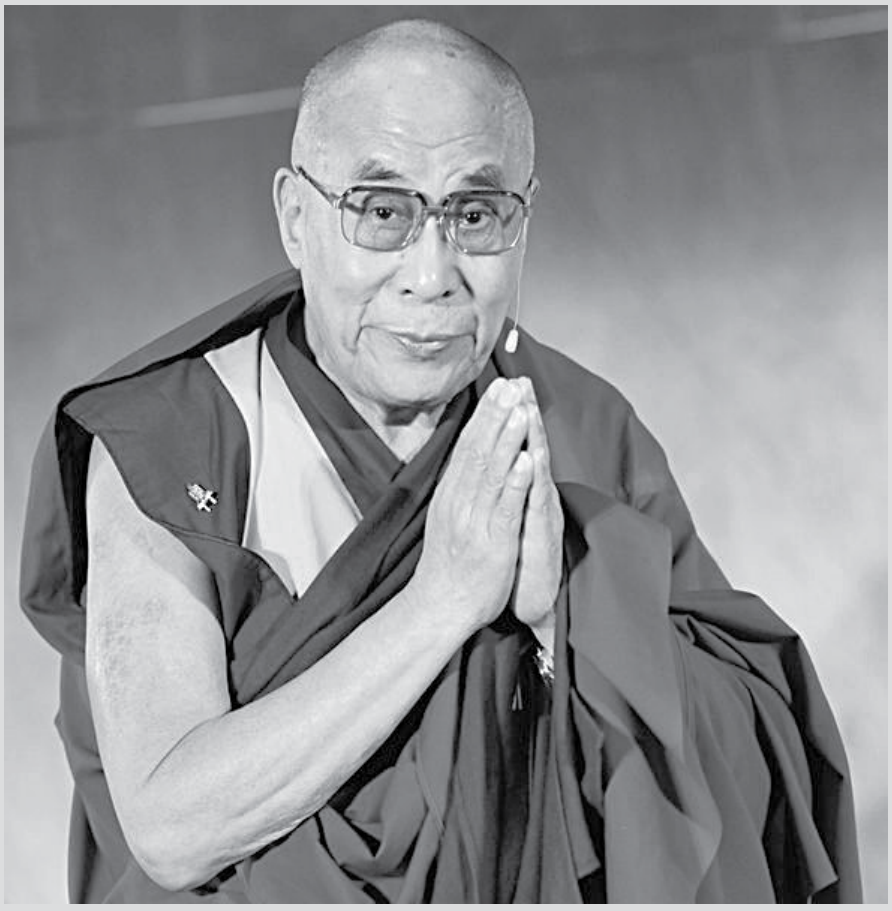

14 अप्रैल 1959 को पंडित नेहरू मसूरी में बिडला भवन में दलाई लामा से मिलने गए। उनके साथ हुई पहली बैठक के दौरान नेहरू जी ने अपने व्यक्तित्व का वह नेतृत्वकारी रूप दिखाया जिसमें उन्होंने दलाई लामा को सलाह दी कि वह शरणार्थियों की अपनी दूसरी पीढ़ी पर ध्यान दें और उन्हें आधुनिक शिक्षा प्रदान करें

आराम से गुजरी जहाँ पर छुगैंग स्वयंसेवक किसी भी चीनी गतिविधि पर नजर रखे हुए थे, और वह उस रास्ते पर भी नजर रखे हुए थे जहाँ से यह दल अभी होकर आया था। उनका अगला कदम था छेन ये, जो एक सुरक्षित जोन में थोडा गहरा था और कुछ आराम करने के लिए बड़ा मठ था।

खराब समाचार

यद्यपि छेन-ये की शांति और आराम बहुत ही कम समय तक रही। जब दलाई लामा ने अगली सुबह अपना ट्रांजिस्टर रेडियो बीबीसी और वीओए स्टेशन पर रोज की तरह समाचार सुनने के लिए लगाया, तो समाचार पूरी तरह से हिलाकर रख देने वाले थे। रिपोर्ट के अनुसार चीनी पीएलए ने नोर्बुलिंग्का के महल के बाहर खड़ी भीड़ पर भीषण जमकर बमबारी की थी। हजारों तिब्बतियों के मारे जाने की आशंका रिपोर्ट ने जताई थी। रेडियो प्रसारण ने तिब्बती प्रदर्शनों को चीनी कब्जों के खिलाफ तिब्बती विद्रोह बताया था।

बहुत ही जल्द एक घुड़सवार ल्हासा से एक पत्र लेकर आया जिसमें यह लिखा हुआ था कि उस रात क्या हुआ था जब दलाई लामा ल्हासा से भागे थे। विवरणों के अनुसार चीनी सैनिकों ने तिब्बती नागरिकों पर काफी बमबारी की थी, और बंदूकों और मशीन गन से सैकड़ों की संख्या में लोगों को मार दिया था। नोर्बुलिंग्का के कई हिस्से बमबारी से क्षतिग्रस्त हो गए थे और पीएलए के सैनिकों ने पूरे शहर में तिब्बती प्रदर्शनकारियों को मार डाला था। जब गोलीबारी बंद हुई थी तो सैनिक नोर्बुलिंग्का में गए और उन्होंने दलाई लामा की खोज में हर कमरे को क्षतिग्रस्त किया। उन्हें दलाई लामा चाहिए थे, जिंदा या मुर्दा!

चीनी हिंसा ल्हासा और तिब्बत में कई और स्थानों पर काफी समय तक जारी रही थी। बाद में, संयुक्त राज्य को सौंपी गई अपनी उसी वर्ष अर्थात वर्ष 1959 की रिपोर्ट में अंतरराष्ट्रीय न्याय आयोग ने कहा कि चीन ने उस विद्रोह में लगभग 80 हजार लोगों को मारा था। तिब्बत पर पारित हुए तीनों संकल्पों अर्थात 1959, 1961, और 1965 में संयुक्त राज्य ने तिब्बत में चीनी सरकार द्वारा किए गए अत्याचारों की निंदा की है।

अंतिम निर्णय

दलाई लामा के लिए, जो यह अपेक्षा कर रहे थे कि तिब्बत के चीनी शासकों में कुछ भलाई का बोध आएगा, यह निर्णय बहुत ही चौंकाने वाला था। वह यह सोचकर दुखी थे कि चीनी सरकार अपने द्वारा किए गए उस 17 सूत्रीय फोर्मुले से पूरी तरह से हट गई थी जो उसने खुद ही बनाए थे और हस्ताक्षर किए थे। उन्होंने और उनके साथियों ने यह अनुभव किया कि नोर्बुलिंग्का से बाहर निकलने का और ल्हासा छोड़ने का उनका निर्णय एकदम उचित एवं समयानुकूल था। चीनी आचरण से गहरे सदमे में आए दलाई लामा ने यह तीन निर्णय लिए। एक कि अब चीनी सरकार से बात और चर्चा करने का कोई औचित्य नहीं है। दूसरा उस 17 सूत्रीय फॉर्मूले को छोड़ना और भारत में शरण लेना। मगर भारतीय सीमा अभी भी दस दिनों की दूरी पर थी, और कोई भी सड़क और पैदल या घोड़ों के अलावा यात्रा का कोई और साधन उपलब्ध नहीं था।

पर्वतों, बर्फ और जंगलों से होते हुए एक और थकाने वाली यात्रा के बाद बचाव दल लहुत्से जोंग पहुंचा, जो भारतीय सीमा पर अंतिम गाँव हुआ करता था। वहां पर दलाई लामा ने एक सार्वजनिक बैठक का आयोजन किया, जिसमें उन्होंने औपचारिक रूप से और सार्वजनिक रूप से 17 सूत्रीय समझौते को तोड़ने की घोषणा की और तिब्बत को चीन से स्वतंत्र घोषित करते हुए उस घोषणापत्र

शोध के उच्च मानदंड के कारण, गर्व हो सकता है, जिन्हें भारत के विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने विश्वविद्यालय अथवा 'मानित विश्वविद्यालय' के रूप में मान्यता दी है।

एक असाधारण 'गुरु दक्षिणा'

इनमें से एक संस्थान, वाराणसी के निकट सारनाथ स्थित सेंट्रल इंस्टीट्यूट ऑफ हायर तिब्बतन स्टडीज (सीआइएचटीएस/केंद्रीय उच्चतर तिब्बती अध्ययन संस्थान), जिसे आगे चल कर प्रोन्नत कर सेंट्रल यूनिवर्सिटी ऑफ तिब्बतन स्टडीज (सीयूटीएस/केंद्रीय तिब्बती अध्ययन विश्वविद्यालय) रूप दिया गया, ने अपनी अनेकानेक विशिष्ट परियोजना में से एक को कार्य रूप देकर एक इतिहास रचा है। 'पुनर्स्थापन परियोजना' नाम से अभिहित इस परियोजना ने दो सौ से अधिक ऐसे संस्कृत ग्रंथों की पुनर्रचना की है जिन्हें भारत में युगों से लुप्त मान लिया गया था। सीयूटीएस ने उन्हें मूल संस्कृत, अंग्रेजी और हिंदी में पुनः प्रस्तुत किया है, जो सदियों तक तिब्बत में बचे रह गए थे। भारत को तिब्बत की एक असाधारण गुरु दक्षिणा (गुरु को एक शिष्य की श्रद्धांजलि)!

इन ग्रंथों में से अधिकांश नागार्जुन, शांतरक्षित, कमलशील, अतीश, आर्यदेव, दीपंकर, भर्तृहरि, अश्वघोष, बोधिभद्र, धर्मकीर्ति आदि जैसे भारतीय विद्वानों के ऐतिहासिक ग्रंथ हैं। इस सूची में आचार्य नागार्जुन के धर्मसंग्रह, रत्नावली, बोधि चित्त-वितरण, बोधिचित्तोद्पादविधि, प्रतीत्यसमुत्पादहृदय आदि जैसे 30 लघु ग्रंथ हैं। अपने शिष्य आर्यदेव की सहायता से

'पुनर्स्थापन परियोजना' नाम से अभिहित इस परियोजना ने दो सौ से अधिक ऐसे संस्कृत ग्रंथों की पुनर्रचना की है जिन्हें भारत में युगों से लुप्त मान लिया गया था। सीयूटीएस ने उन्हें मूल संस्कृत, अंग्रेजी और हिंदी में पुनः प्रस्तुत किया है, जो सदियों तक तिब्बत में बचे रह गए थे

नागार्जुन ने ही महायान बौद्ध के माध्यमिक संप्रदाय की स्थापना भी की। हालाँकि इन विद्वानों के ऐसे कई ग्रंथों का संदर्भ जीवित बचे अन्य साहित्य में मिलता है, किंतु सन् 1959 से शरणार्थी के रूप में तिब्बती विद्वानों के एक नए समूह के भारत आकर बसने से पहले तक इनमें से कई ग्रंथों का पता नहीं चल पाया था और उन्हें सदा के लिए लुप्त मान लिया गया था।

धर्मगुरु दलाई लामा के मार्गदर्शन में ही एक महान तिब्बती विद्वान एवं निदेशक प्रो. सामदोंग रिनपोछे के नेतृत्व में पुराने सीआइएचटीएस ने एक परियोजना शुरू की। इस परियोजना का मुख्य उद्देश्य उन पांडुलिपियों के इन सभी तिब्बती अनुवादों का पता लगाना और उनका फिर से तिब्बती भाषा से अनुवाद करना था, जिनके मूल संस्कृत रूप को स्थायी तौर पर लुप्त मान लिया गया था, किंतु वे तिब्बती भाषा में उपलब्ध थे।

सन् 1970 के उत्तरार्ध में आरंभ यह परियोजना एक अन्य विख्यात तिब्बती विद्वान और सीयूटीएस के कुलपति प्रो. गेशे न्गवांग सामतेन, जो इस परियोजना से इसके आरंभ से ही जुड़े हैं, के नेतृत्व में अभी भी जारी है। इस पुनरुज्जीवन परियोजना से घनिष्ठता से जुड़े भारतीय विद्वानों में प्रो. जगन्नाथ उपाध्याय, व्रजवल्लभ द्विवेदी, प्रो. एस. एस. बाहुलकर, प्रो. जनार्दन शास्त्री पांडेय, प्रो. श्रीकांत शंकर बाहुलकर जैसे प्रतिष्ठित जन शामिल हैं। इनमें डॉ. ठाकुर साईं नेगी, डॉ. बनारसी लाल, श्री थिनले राम शास्त्री, डॉ. त्सेरिंग डोकर, डॉ. रंजन कुमार शर्मा, डॉ. विजयराज वज्राचार्य जैसे कुछ और प्रतिष्ठित व्यक्ति भी शामिल हैं।

इस परियोजना के माध्यम से पुनः प्रस्तुत भारतीय ग्रंथों की एक संपूर्ण सूची परिशिष्ट में (पृष्ठ संख्या 35) उपलब्ध है।

संदर्भः

1. *http://en.banglapedia.org/index.php?title=Tabaqat-i-Nasiri*
2. डी.सी. अहीर (2005). बुद्धिज्म डेक्लाइंड इन इंडियाः *हाउ एंड व्हाई?*, बी.आर.पब्लिशिंग- आइएसबीन 81-7646-447-3

पर अपनी मोहर लगा दी। एक साधारण परंतु उत्साहजनक उत्सव में परंपरागत तिब्बती नृत्य, संगीत और प्रार्थनाओं के साथ चीन से तिब्बत के स्वतंत्र होने की घोषणा की गई।

इस समारोह के बाद, दलाई लामा ने घुड़सवारों की एक टीम को एक नजदीकी भारतीय सीमा पर भारत में शरण के लिए औपचारिक अनुरोध लेकर भेजा। यात्रा हिमालय के ऊंचे पर्वतों के कारण बहुत अधिक जटिल थी और रास्ते बर्फ से ढके हुए थे। एक सुबह वह यह देखकर हैरान रह गया कि एक हवाई जहाज एक दिशा से आ रहा है और फिर वहां पर चक्कर लगाकर उसी दिशा की तरफ जा रहा है। उनकी पहली चिंता इस बात को लेकर थी कि कहीं यह चीनी विमान तो नहीं है जो चीनी सेना द्वारा हमला करने वाला होगा। मगर ऐसा कुछ नहीं हुआ। अब यह कहा जा सकता है कि यह हवाई जहाज अमेरिका या किसी मित्र राष्ट्र द्वारा यह पता लगाने के लिए था कि दलाई लामा कहाँ हैं और कैसे हैं और उनके साथ उनका बचाव दल कहाँ है।

अब आगे जो था वह था यात्रा का सबसे थकाने वाला हिस्सा जिसमें बर्फ से ढकी पहाड़ियों पर लागो - ला और कार्पो - ला दर्रे थे जिन पर सीधी चढ़ाई थी और जिन्हें अभी पार किया जाना था। मगर जब दलाई लामा इन दर्रों को पार करके आगे बढे और अंतिम तिब्बती गाँव मांग मांग पहुंचे जो भारतीय सीमा पर था, तो उन्हें बहुत तेज बुखार था और उन्हें तत्काल ही आराम की जरूरत थी। पार्टी ने मांग मांग पर रुकना और आराम करना तय किया। उस समय तक भारतीय सरकार से भी उत्तर प्राप्त हो चुका था और नई दिल्ली दलाई लामा का स्वागत करने के लिए और उन्हें भारत में शरण देने के लिए तैयार थी।

बुखार से सही होने के बाद भी दलाई लामा बहुत कमजोर थे। भारतीय सीमा तक उनकी यात्रा को सुविधाजनक बनाने के लिए स्थानीय नागरिकों ने उनके लिए एक याक की व्यवस्था की। याक, जो ऊंचाई पर सामान आदि ले जाने के काम आता है और जो गाय और बैल की प्रजाति का ही होता है, वह हालांकि बहुत धीरे धीरे चलता है मगर ऊंचे पर्वतों के लिए बहुत मजबूत और उचित होता है। जब दलाई लामा और उनका दल भारत और तिब्बत सीमा पर पहुंचा तो भारत सरकार का एक प्रतिनिधि और प्रधानमंत्री श्री जवाहर लाल नेहरू का एक व्यक्तिगत पत्र उनके स्वागत में था। उनका स्वागत भारतीय सेना द्वारा गार्ड ऑफ ऑनर के साथ किया गया। सीमा से उन्हें ताजपुर ले जाया गया जहाँ पर उन्होंने देहरादून जाने से पहले जाने कुछ दिन आराम किया। निष्कासन में उनका पहला घर मसूरी में बिरला भवन था जो देहरादून से कुछ किलोमीटर ऊपर था। आने वाले महीनों में उनके साथ लगभग 80,000 तिब्बती भी भारत, नेपाल और भूटान में आए। आज उनकी कुल संख्या डेढ़ लाख है। उनमें से 1 लाख से कम लोग भारत में रहने लगे हैं और अब वह पूरे विश्व में फैले हुए हैं।

14 अप्रैल 1959 को पंडित नेहरू मसूरी में बिडला भवन में दलाई लामा से मिलने गए। उनके साथ हुई पहली बैठक के दौरान नेहरू जी ने अपने व्यक्तित्व का वह नेतृत्वकारी रूप दिखाया जिसमें उन्होंने दलाई लामा को सलाह दी कि वह शरणार्थियों की अपनी दूसरी पीढ़ी पर ध्यान दें और उन्हें आधुनिक शिक्षा प्रदान करें। कुछ ही घंटों में पंडित नेहरू ने तिब्बती बच्चों के लिए स्वायत्त विद्यालयों की एक पूरी श्रृंखला स्थापित करने का निर्णय लिया जो बाद में केंद्रीय तिब्बत विद्यालय प्रशासन के रूप में विकसित हुआ, जो तिब्बती शरणार्थी समुदाय की प्रेरक और शिक्षित मानवश्रम के लिए ऐसी नींव साबित हुआ जिसकी जड़ें तिब्बती संस्कृति एवं राष्ट्रीय आकांक्षाओं में है।

मसूरी से दलाई लामा को धर्मशाला में स्थानांतरित किया गया जो उस समय पंजाब राज्य का हिस्सा था और वर्तमान में हिमाचल प्रदेश का हिस्सा है, जिसका गठन 1971 में पंजाब से अलग होकर हुआ था। आज दलाई लामा मैकलोड गंज अर्थात ऊपरी धर्मशाला में निवास करते हैं जहाँ उन्होंने केंद्रीय तिब्बत प्रशासन की स्थापना की है जो 'निष्कासित तिब्बत सरकार' के रूप में वस्तुतः कार्य करती है।

v.kranti@gmail.com

Govt. of Haryana

HARYANA SECURING THE DIGNITY OF WOMEN

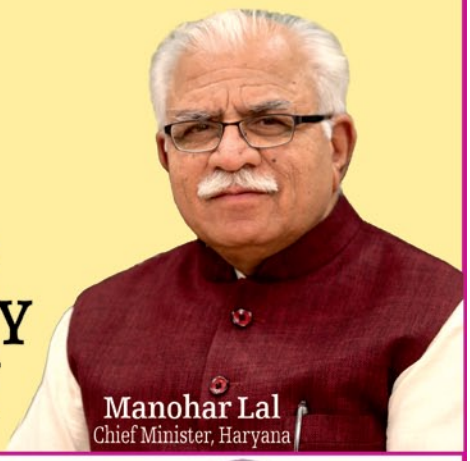

Manohar Lal
Chief Minister, Haryana

Women Police Station in Haryana
33
Women's Security - Haryana's Priority

Sakhi One Stop Centre
One Stop Centre- Sakhi
for facilitating women victims of violence

Women Helpline
1091

Strict Punishment under **Criminal Law Bill-2018** for rape of girls below the age of 12 years

Durga Shakti App & Durga Shakti Vahini Sewa to ensure security of women

181 Women Bus Service for girl students

Separate toilets for boy & girl students in schools

52 new Govt. colleges including 30 women colleges

45 days of maternity leave for married girls in Universities and Colleges

Improved Sex Ratio

Year 2014 - 871
Year 2019-923

Rs. 51,000 as shagun to widows of BPL families on their daughter's wedding

9,19,386 Poor Families benefited under Ujjwala scheme

For the first time, Special allowance of Rs. 1,500 per month for child care for disabled female Government employees

Maternity leave to women employees appointed through outsourcing

NAFED

60 Years in Service

nafed

Objective: NAFED is an apex organization of Marketing Cooperatives for agricultural produce in India having its registered Office at New Delhi, India. Nafed was established on 2nd October, 1958 with the mission to promote the trade of agricultural and forest resources across the country.

The infrastructure of NAFED is spread all across the country with one or more branches in each state of India along with other state-of-the-art infrastructure comprising of warehouses, cold storages, pre cooling units/vans, onion storages, tea blending and packaging units etc.

Business Activities of NAFED

परिशिष्ट

केंद्रीय उच्च तिब्बती अध्ययन संस्थान द्वारा पुनरुद्धारित प्रकाशित का-ग्युर एवं तन्-ग्युर ग्रंथों की सूची

Sl. No.	पुनरुद्धारक का नाम	पुनरुद्धारित ग्रन्थों का नाम	मूल लेखक	दे-गे संस्करण संख्या	प्रकाशित वर्ष	पुस्तकों का शीर्षक
1.	प्रो. रामशंकर त्रिपाठी, लोब्संग जम्बल, एस. रिनपोछे	अभिसमयालंकार-नाम-प्रज्ञापारमितोपदेश-शास्त्रलवृत्ति	आचार्य हरिभद्र,	3793	1977	अभिसमयालङ्कारवृत्तिः स्फुटार्थ
2.	प्रो. लाल मणि जोशी भिक्षु प्रसादिका	1. वज्रच्छेदिकाप्रज्ञापारमिता 2. त्रिंशतिकाकारिकासप्तति 3. विमलकीर्तिनिर्देशसूत्र	सूत्र आचार्य असंग सूत्र	16 5070 179	1978	वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमितासूत्र तथा आचार्य असङ्गकृत त्रिंशतिकाकारिकासप्तितिः विमलकीर्तिनिर्देशसूत्र
3.	प्रो. सेम्पा दोर्जे	1. शून्यतासप्तति 2. शून्यतासप्ततिवृत्ति	आर्य नागार्जुन आर्य नागार्जुन	3827 3831	1985	शून्यतासप्तितिः आचार्य नागार्जुनप्रणीतास्वोपज्ञवृत्या समन्विता-
4.	आचार्य ज्ञलछेन नमडोल	1. भावनाक्रम 1, 2, 3 2. प्रतीत्यसमुत्पादहृदय 3. आर्यसागरनागराजपरिपृच्छा	आचार्य कमलशील आर्य नागार्जुन सूत्र	3916 4101 155	1985 1997 2004	आचार्य कमलशीलप्रणीतः भावनाक्रमः आचार्य नागार्जुन-प्रणीत प्रतीत्यसमुत्पादहृदय एवं आर्यधर्मधातुगर्भविवरण
5.	प्रो. लोब्संग नोर्बु शास्त्री	1. बोधिपथप्रदीप 2. छन्दोरत्नाकर 3. शतगाथा (Partial restored) 4. तर्कभाषा (Partial restored)	आचार्य दीपंकरश्रीज्ञान आचार्य रत्नारकरशान्ति आचार्य वररूचि आचार्य मोक्षाकरगुप्तन	3947 4303 4332 4264	1984 1990 2001 2004	1.बोधिपथप्रदीपः आचार्य दीपङ्कर श्रीज्ञानविरचितः 2.कलिकालसर्वज्ञरत्नाकरशान्तिपाद प्रणीतः छन्देरत्नाकरः स्वोपज्ञवृत्या समन्वितः 3.आचार्यवररुचिकृत शतगाथा 4.आचार्यमोक्षाकरपुप्तविरचित तर्कभाषा
6.	आचार्य छुलठ्रिम फुनछ्ोग	1. धर्मधर्मताविभंगकारिका 2. धर्मधर्मताविभंग टीका	आर्य मैत्रेय आचार्य वसुबन्धु	4023 4028	1990 1990	मैत्रेयनाथविरचिता धर्मधर्मताविभङ्कारिका वसुबन्धुकृत वृत्तिसमन्विता
7.	जे.एस.नेगी	1. संतानान्तरसिद्धि-नाम-प्रकरण 2. सन्तानान्तरसिद्धिटीका	आचार्यधर्मकीर्ति आचार्यविनीतदेव	4219 4238	1997 1997	आचार्यधर्मकीर्तिविरचिता सन्तानान्तरसिद्धिःश्रीविनीतदेवकृत सन्तानान्तर सिद्धिटीकासहिता
8.	डॉ. एम. आर. चिनचोरी	1. संतानान्तमरसिद्धि- 2. सन्ताानान्तिरसिद्धिटीका	आचार्यधर्मकीर्ति आचार्यविनीतदेव	4219 4238	1997 1997	आचार्यधर्मकीर्तिविरचिता सन्तानान्तरसिद्धिःश्रीविनीतदेवकृत सन्तानान्तरसिद्धिटीका
9.	डॉ. सोनम रबतेन	1. सत्यद्वयावतार 2. एकस्मृत्युपदेश 3. मध्यमकोपदेश 4. प्रज्ञाहृदयव्याख्या 5. आर्यशालिस्तम्बाकरिका 6. आर्यशालिस्तम्बानाममहायान सूत्रकारिका	आचार्य दीपंकरश्रीज्ञान आचार्य दीपंकरश्रीज्ञान आचार्य दीपंकरश्रीज्ञान आचार्य दीपंकरश्रीज्ञान आचार्य नागार्जुन आचार्य नागार्जुन	3902 3928 3929 3823 3985 3986	2000 2000 2000 2000 2004 2004	अतिशदीपङ्कर श्रीज्ञानप्रणीतम् सत्यद्वयावतारादिग्रन्थचतुष्टयम्- आचार्यनागार्जुनप्रणीता सटीका आर्यशालिस्तम्बककारिका-
10.	डॉ. पेमा तेनजिन	1. आर्यप्रज्ञापारमितावर्ज्रच्छेदिका 2. सुहल्लेख 3. सुहृल्लेख का टीका 4. महायानसंग्रह 5. आचार्य चन्द्रकीर्ति विरचित मध्यमकावतार एवं भाष्य (छठा चित्तोत्पाद)	सूत्र आचार्य कमलशील आचार्य नागार्जुना आचार्यमहामति आर्य असंग आचार्य चन्द्रआकीर्ति	16 3817 4182 4190 4048 3962	1994 1994 1996 2002 2012 2016	1.आर्यप्रज्ञापारिमतावज्रच्देदिकासूत्रम एवं आचार्य कमलशीलविरचिता आर्यप्रज्ञापारमितावज्रच्छेदिकाटीका 2.आचार्यनागार्जुविरचितः सुहृल्लेखः आचार्यमहामतिवरिचिता व्यक्तपदाटीका च। 3.असंगाचार्येण विरचितः महायानसंग्रहः आचार्य चन्द्रकीर्ति विरचित मध्यमकावतार एवं भाष्य (छठा चित्तोत्पाद)

Sl. No.	पुनरुद्धारक का नाम	पुनरुद्धारित ग्रन्थों का नाम	मूल लेखक	दे-गे संस्करण संख्या	प्रकाशित वर्ष	पुस्तकों का शीर्षक
11.	डॉ. पेम्पा दोर्जे	1. मध्यमकालोक 2. ज्ञानसारसमुच्चय 3. ज्ञानसारमुच्चयनिबन्धनम्	आचार्य कमलशील आचार्य आर्यदेव आचार्य बोधिभद्र	3887 3851 3852	2001 2008 2008	आचार्यकमलशीलप्रणीत: मध्यमकालोक: ज्ञानसारसमुच्चकय: एवं ज्ञानसारसमुच्चचयनिबन्धनम् (आर्यदेवकृत)
12.	डॉ. रमेश चन्द्र नेगी	1. गर्भसंग्रह 2. बोधिसत्वाहदिकर्मिक मार्गावतारदेशना 3. शरणगमनदेशना 4. महायानसाधनवर्णसंग्रह 5. सूत्रार्थसमुच्चयोपदेश 6. दशकुशलकर्मपथदेशना 7. चर्यासंग्रहपदीप 8. चित्तोत्पादसंवरविधिक्रम 9. आपत्तिदेशनाविधि 10. गुरुक्रियाक्रम 11. समाधिसम्भारपरिवर्त	आचार्य दीपंकरश्रीज्ञान आचार्य दीपंकरश्रीज्ञान आचार्य दीपंकरश्रीज्ञान आचार्य दीपंकरश्रीज्ञान आचार्य दीपंकरश्रीज्ञान आचार्य दीपंकरश्रीज्ञान आचार्य दीपंकरश्रीज्ञान आचार्य दीपंकरश्रीज्ञान आचार्य दीपंकरश्रीज्ञान आचार्य दीपंकरश्रीज्ञान आचार्य दीपंकरश्रीज्ञान आचार्य दीपंकरश्रीज्ञान	3949 3952 3953 3954 3957 3958 3960 3969 3973 3977 2460	1992 1992 1992 1992 1992 1992 1992 1992 1992 1992 1992	अतीशविरचिता एकादशग्रन्था:
13.	लोब्संग दोर्जे	1. बोधिसत्वमण्यावलि 2. लोकातीतसप्तांग विधि 3. संचोदन सहित स्वकृत्यक्रमवर्णसंग्रह 4. धर्मधातु दर्शनगीति 5. विमलरन्तलेख 6. त्रिस्कन्धसूत्र टीका बोध्यापत्तिदेशनावृत्ति: 7. बोध्यापत्तिदेशनावृत्ति: बोधिसत्वशिक्षाक्रम: 8. कर्मावरणविशोधनविधिभाष्यम् 9. सामान्य प्रतिदेशना 10. सर्वप्रज्ञान्तपारमितासिद्धचैत्यना मधारणी 11. पारमितायानसंकनिर्वपणविधि: 12. प्रहाणपूरकशतवन्दनानाम महायानसूत्र 13. द्वादशकारनयस्तोत्रम् 14. भावनायोगावतार: 15. बोधिचित्तोत्पादविधि:	आचार्य दीपंकरश्रीज्ञान आचार्य दीपंकरश्रीज्ञान आचार्य दीपंकरश्रीज्ञान आचार्य दीपंकरश्रीज्ञान आचार्य दीपंकरश्रीज्ञान आचार्य नागार्जुना आचार्य जितारि आचार्य दीपंकरश्रीज्ञान आचार्य अश्वकघोष सूत्र आचार्य दीपंकरश्रीज्ञान सूत्र आचार्य नागार्जुना आचार्य कमलशील आचार्य नागार्जुना	3951 2461 3956 2314 4333 4005 4006 4007 601 3976 267 1135 3918 3966	1999 1999	आचार्य दीपंकरश्रीज्ञान प्रणीत पश्च ग्रन्थ संग्रह- Do Do आर्यत्रिस्कन्ध-सूत्रं टीकात्रयसंवलितम् Do चैत्य-संचययोर्निर्माणविधिसंग्रह- Do धी: पत्रिका-54, 2014 धी: पत्रिका-57, 2017 धी: पत्रिका-48, 2009 धी: पत्रिका-53, 2013
14.	डॉ. छेरिंग डोलकर	1. समाधिसम्भारपरिवर्त 2. समाधिसम्भारपरिवर्त 3. ध्यानषंधर्मव्यवस्थान 4. ध्यानषंधर्मव्यवस्थानवृत्ति	आचार्यबोधिभद्र आचार्यकृष्णपाद	3924 3925 3926 3927		आचार्यबोधिभद्र-कृष्णपाद- विरचितौ समाधिसम्भारपरिवर्ती धी: पत्रिका-
15.	डॉ. छोग दोर्जे	श्रीबुद्धकपालमहातन्त्रराज टीका अभयपद्धति:	पण्डित- स्थविर-अभयाकरगुप्तपाद	1654		पण्डित-स्थविर-अभयाकरगुप्तपाद-विरचिता श्रीबुद्धकपालमहातन्त्र- राज टीका अभयपद्धति:

इष्ट देव सांकृत्यायन

राहुल की दृष्टि में तिब्बती समाज पर भारतीय प्रभाव

राजनीतिक रूप से तिब्बत एक अलग देश भले रहा हो, लेकिन भीतर पैठने पर यह संस्कृति के स्तर पर भारत का ही एक विस्तार नजर आता है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने इस समाज की आत्मा को केवल देखने-समझने ही नहीं, उसे लिपिबद्ध करने का भी प्रयास किया

भारतभूमि से त्रिविष्टप क्षेत्र के रिश्ते वैसे तो सहस्राब्दियों पुराने हैं। माना तो यह जाता है कि मानव की सृष्टि ही यहीं हुई और यही वह जगह है जहाँ से मनुष्य सभ्यता का विस्तार हुआ। ऋग्वेद से लेकर रामायण और महाभारत तक प्रायः सभी प्राचीन ग्रंथों में इसका जिक्र किसी न किसी रूप में है और दोनों ही तरफ के लोगों में एक दूसरे के प्रति विशिष्ट भावनात्मक लगाव भी लक्षित होता है। निश्चित रूप से सांस्कृतिक रूप से हम एक ही भूक्षेत्र के हिस्से हैं और भगवान बुद्ध के संदेशों ने इस सांस्कृतिक एकता को और मजबूत करने का कार्य किया। यह बौद्ध धर्म के संदेशों और तिब्बत से इसके मूलबद्ध होने का ही प्रभाव है जो आज संस्कृत के कई महत्वपूर्ण प्राचीन ग्रंथ, जो विदेशी आक्रमणकारियों की बर्बरताओं और हमारी सभ्यता के प्रति उनके द्वेषभाव के कारण हमारी स्मृतिकोश से भौतिक रूप में गायब हो गए थे, तिब्बती अनुवाद के रूप में हमें उपलब्ध हैं। उन ग्रंथों के तिब्बती अनुवादों के भौतिक सत्यापन की दिशा में आधुनिक युग में जिस व्यक्ति ने सबसे पहले प्रयास किया, वह महापंडित राहुल सांकृत्यायन हैं।

निस्संदेह इसका एक कारण बौद्ध धर्म के प्रति राहुलजी का लगाव था, लेकिन संस्कृत भाषा और उसके वाङ्मय से भी उनका लगाव किसी से कम नहीं था। यह इन दोनों बातों का मिला-जुला प्रभाव ही था जो उन्होंने कुल चार बार तिब्बत की अत्यंत दुष्कर यात्राएं कीं, जिनमें पहली बार तो अगर यह कहा जाए कि उन्होंने जान पर खेलकर यह दूरी तय की तो अतिशयोक्ति न होगी। उन्होंने तिब्बत की पहली यात्रा सन 1929-30 में की, दूसरी यात्रा 1934, तीसरी 1936 और चौथी 1938 में।[1] अब हमारा यह पवित्र क्षेत्र चीन के अवैध कब्जे में है। आवागमन के आधुनिक साधन भी बहुत हो गए हैं। लेकिन तब यहाँ से तिब्बत जाने के लिए पैदल और घोड़े व खच्चरों के अलावा कोई दूसरा तरीका नहीं था। तिब्बत जाने के लिए उन दिनों खास परमिट की आवश्यकता होती थी, जो भी राहुल जी के पास नहीं थी। एक तरह से वह अवैध घुसपैठिये की तरह वहाँ गए थे। पूरे रास्ते स्वयं को लद्दाखी बताते हुए। यद्यपि राजधानी ल्हासा पहुँचकर उन्होंने अपनी सही पहचान स्पष्ट कर दी थी और वहाँ के प्रायः सभी प्रमुख महत्वपूर्ण व्यक्तियों से सौहार्दपूर्ण संबंध स्थापित कर लेने के बावजूद अंग्रेजों के गुप्तचरों के निशाने पर लगातार बने रहने से वह नहीं बच पाए। फिर भी 'कार्यं वा साधयेत् प्राणं वा पातयेत' में आस्था रखने वाले राहुलजी संस्कृति सेवा का अपना लक्ष्य साध कर ही माने।

धर्मनिष्ठा और उसकी भारत से मूलबद्धता

मार्ग की कठिनाइयां और कार्य की दुस्साध्यता तो अपनी जगह लेकिन इसका बड़ा लाभ यह हुआ कि तत्कालीन तिब्बत की सामाजिक संरचना और भारत से उसके भावनात्मक संबंधों का जैसा जीवंत वर्णन हमें राहुल सांकृत्यायन के वृत्तांतों में मिलता है, वह अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। इस लेख का यही अभीष्ट है। चीन के अवैध कब्जे में आने के बाद तो वहाँ से स्वयं परम पावन दलाई लामा को ही निर्वासित होना पड़ा। ऐसी स्थिति में मूल तिब्बती जन अपने वास्तविक रूप में कितना बचा रह गया होगा और कैसा जीवन जी रहा

होगा, यह कल्पना भी कठिन है। लेकिन तब यानी 1929 से लेकर 1938 के बीच तिब्बती समाज आम भारतीय समाज की तरह आम भारतीय समाज की ही तरह धर्मनिष्ठ था और धर्मनिष्ठता के उनके सारे प्रतीक प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से भारत से जुड़ते हैं। इसका अनुमान आप इसी बात से लगा सकते हैं कि तिब्बत के कई पहाड़ ग्य-गर यानी भारत से लाए गए माने जाते हैं।[2] जिस तरह यहाँ राजा को विष्णु का अवतार माना जाता रहा है, वैसे ही तिब्बत में परम पवित्र दलाई लामा को लोग भगवान बुद्ध का अवतार मानते हैं और यह परंपरा मूल तिब्बती लोगों में आज भी जीवित है।[3] पहाड़ एक से दूसरी जगह लाए और ले जाए जा सकते हैं, यह मान्यता केवल यहीं नहीं, तिब्बत में भी रही है और शायद मूल निवासियों के बीच आज भी है। बात उस समय की है जब राहुल जी ल्हासा से सम्-ये की यात्रा पर थे। वे ब्रह्मपुत्र नदी की उपत्यका से होते हुए गुजर रहे थे, "शाम को हम एक ऐसे पहाड़ के पास पहुँचे, जो पथरीला था। लोगों ने बड़ी संजीदगी से बतलाया कि यह तिब्बत का पहाड़ नहीं है, इसे पवित्र समझ कर भारत से यहाँ लाया गया है।"[4] इतना ही नहीं, लोकविश्वासों में बिलकुल हमारी ही तरह इन चीजों का वैयक्तीकरण भी वहाँ होता है, "बाई ओर तीन छोटी बड़ी शिलाएं पानी के भीतर थीं। इनके बारे में बतलाया गया कि ये सो-नम्, फुन, सुम् माता-पिता-पुत्र तीन व्यक्ति हैं। आखिर हम अब सम्-ये के पास भी पहुँच रहे थे, जिसे भारत के ही पंडित नें भारतीय ढंग पर बनवाया था।"[5] यह केवल लोकमान्यताओं की समानता ही नहीं, बल्कि उनकी धार्मिक आस्था की भारत से मूलबद्धता की भी अभिव्यक्ति है।

इसी यात्रा में आगे रात को नौ बजे वे ब्रह्मपुत्र के बीच में पड़ी एक शिला के पास पहुँचे। वहाँ उत्सवों के समय दीवारों पर चित्रपट टाँगने की परंपरा है। करीब 150 फुट ऊँची इस तिकोनी शिला के बारे में भी, "साथियों ने बतलाया कि जिस वक्त सम्-ये का विहार बनवाया जाता था, उस समय वहाँ भी चित्रपट टाँगने की दीवार की जरूरत महसूस हुई; उसी के लिए यह महाशिला भारत से यहाँ लाई गई।"[6] इस तरह की लोकमान्यताएं वहाँ कई शिलाओं-पहाड़ों के बारे में हैं। वहाँ ऐसे पहाड़ें की परिक्रमा की भी परंपरा है। फुङ नदी के बाएं किनारे पर मौजूद ऐसे ही एक पहाड़ शिव्-री के बारे में राहुल जी लिखते हैं, "घंटों चलने के बाद हमें नदी की बाईं ओर शिव्-री का पहाड़ दिखाई पड़ा। जहाँ तिब्बत के और पहाड़ अधिकतर मिट्टी से ढके रहते हैं वहाँ इस पहाड़ में पत्थर ही पत्थर मिलता है। इस विशेषता के कारण कहावत है कि यह पहाड़ बोट का नहीं, ग्य-गर (=भारत) का है। यह भोट देश में बहुत ही पवित्र माना जाता है। आजकल इसकी परिक्रमा का समय था। इसकी परिक्रमा में चित्रकूट की परिक्रमा की भाँति जगह-जगह अनेक मंदिर हैं। कितने ही लोग साष्टांग दंडवत करते हुए परिक्रमा करते हैं।"[7] पहाड़ों-नदियों आदि की परिक्रमा की यह परंपरा पूरे भारत में पाई जाती है। कारण और बहाने अलग-अलग भले गिनाए जाते हों, लेकिन मूलभाव एक ही है। ग्य-गर यानी भारत का अर्थ ही त्रिविष्टपवासियों के लिए गुरुदेश अर्थात् पवित्रता है। अब उनके चीनी कब्जे में आ जाने से बेशक स्थितियां बदल गई, लेकिन उन दिनों वहाँ तीर्थयात्रा का अभिप्राय ही प्राय: भारत जाने से होता रहा है। इसका संकेत राहुल जी तिब्बत में अपने प्रवेश के समय देते हैं, जब उन्होंने सीमा चौकी पर यह बताया कि हम ग्य-गर् से दोर्जे-दन् (बोध गया) तीर्थ करके ल्हासा जा रहे हैं।[8] भारत की ही तरह वहाँ भी हर गाँव के देवता होते हैं और ग्रामदेवता के प्रति ऐसी ही श्रद्धा है, "अंत में हमें काले पीले सफेद कपड़ों की झंडियां दिखाई पड़ीं। मालूम हुआ ला का शिखर आ गया। भोट में हर ला का कोई देवता होता है। उसके पास आते ही लोग घोड़े पर उतर जाते हैं, जिससे देवता नाराज न हो जाए। हम भी उतर गए। सुमति-प्रज्ञ और दूसरे भोटियों ने 'शो शो शो' कह देवता की जय मनाई।"[9]

भारत जैसी ही जप-तप और पुण्य-संचय की प्रवृत्ति भी तिब्बत में है। यहाँ प्राय: बुजुर्गों के ही हाथों में प्राय: जप के लिए माला और गोमुखी देखी जाती है। महानगरों की लोकल ट्रेनों और मेट्रो में भी आप पूजा-पाठ के लिए समयाभाव से जूझ रहे वयस्कों के हाथों में भी कभी-कभी ऐसी माला या धार्मिक पुस्तक देख सकते हैं। लेकिन "तिब्बत में नर-नारी सभी के हाथ में प्राय: माला देखी जाती है। उनमें से अधिकांश चलते-फिरते बैठते उसे फेरते रहते हैं। अधिक श्रद्धालु तो एक हाथ में माला और दूसरे में माणी घुमाते हैं। इस माणी में ताँबे या चाँदी के चोंगे में एक लाख से अधिक मंत्र कागज पर लिख कर मोड़कर रखते हैं जिसके भीतर कील रहती है.... एक बार घूमने से भीतर लिखे सभी मंत्रों के उच्चारण का फल होता है।"[10] यह माणियां कई तरह की होती हैं। पनचक्की की तरह चलने वाली, कंदील के भीतर चिराग रखकर ऊपर लटके कागज या कपड़े के छाते से जोड़कर जोर-जोर से चलने वाली और कहीं पंखे की तरह हवा के जोर से चलने वाली। राहुल जी इस बात पर व्यंग्य भी करते हैं, "यदि तिब्बत में बिजली चल जाए, तो इसमें शक नहीं कि बहुत-सी बिजली की भी माणियां लग जाएंगी। हमारे यहां जीभ हिलाकर मंत्रपाठ होता है, कोई कोई मंत्रों को पुण्य संचय के लिए कागज पर भी लिख लेते हैं। एकाध जगह हजारों राम-नाम की छपी पुस्तकें भी वितरित होने लगी हैं; तो भी हमारे पुण्य संचय की गति बहुत मंद है। शायद सैकड़ों वर्षों में भी इस विषय में हम तिब्बती लोगों का मुकाबला न कर सकेंगे।"[11]

इसी तरह कुछ लोगों के सिर देवताओं के आने का विश्वास भी वहाँ बहुत प्रबल है। ऐसे लोगों को गुनी जन मानकर इनका बहुत सम्मान होता है और लोग अपनी समस्याओं के समाधान के लिए इनके पास जाते हैं। बदले में दान-दक्षिणा भी देते हैं। ल्हासा से वापसी के समय फरी से आगे बढ़ने पर राहुल जी कहीं सराय में ठहरे। उस सराय का वर्णन करते हुए वह लिखते हैं, "हमारे बैठने के थोड़ी ही देर बाद दो स्त्री-पुरुष आए। बुढ़िया ने उनके लिए पान प्रस्तुत किया। थोड़ी ही देर बाद स्त्री अंगड़ाई लेने लगी। पुरुष बार-बार

तिब्बत में नर-नारी सभी के हाथ में प्राय: माला देखी जाती है। उनमें से अधिकांश चलते-फिरते बैठते उसे फेरते रहते हैं। अधिक श्रद्धालु तो एक हाथ में माला और दूसरे में माणी घुमाते हैं। इस माणी में ताँबे या चाँदी के चोंगे में एक लाख से अधिक मंत्र कागज पर लिख कर मोड़कर रखते हैं जिसके भीतर कील रहती है

हाथ जोड़ने लगा। धर्मकीर्ति ने बतलाया कि स्त्री के ऊपर देवता आ रहा है, और पुरुष उसे न आने देने के लिए नकल कर रहा है। स्त्री उठ खड़ी हुई, देवता की पोशाक पहन डंडे लगा डफ बाजा उठाए वह मालकिन की कोठरी में चली गई। सामने बत्ती लगा दी गई, धूप जलने लगी और पतली लकड़ी से बाजे पर ताल देते देवता धाराप्रवाह पद्य में बोलने लगा। सारे खच्चर वाले और दूसरे मुसाफिर देववाहिनी के सामने पैसा रख-रख कर अपने दुख-सुख के बारे में पूछने लगे, गद्य में नहीं, सारा जवाब पद्य में था।"[12] ऐसा भी नहीं कि देवता केवल स्त्रियों के सिर आते हों। पुरुष भी इस मामले में कम भाग्यशाली नहीं हैं। ऐसा ही एक और जिक्र वे ल्हासा से सम्-ये की यात्रा में करते हैं, "यह आशा कर बैठे थे कि थोड़ी देर में यहाँ से आगे चलेंगे; किंतु मालूम हुआ कि बुढ़िया के खाविंद पर देवता आता है। उसकी इधर काफी यजमानी है... तिब्बत में जो देवता की बात बतलावे, वही देवता की भाँति पूजा जाता है।"[13]

परंपरागत शिक्षा-व्यवस्था

समानता की यह बात केवल धर्मनिष्ठा ही नहीं, शिक्षा-व्यवस्था के मामले में भी उतनी ही है, यद्यपि थोड़े अंतर के साथ। प्राचीन भारत में शिक्षा-व्यवस्था आश्रमों में होती थी। इसके अलावा गुरुकुल भी होते थे और विश्वविद्यालय भी। इनमें कई जगह विद्यार्थियों की आवश्यकता और सुविधानुसार पढ़ने की व्यवस्था रहती थी और कई जगह रहने की भी। ऐसी परंपरागत पाठशालाएं भारत में अभी भी देखी जा सकती हैं, यह अलग बात है कि शताब्दियों की दासता ने उनका वैभव और प्रभाव क्षीण कर दिया है। तिब्बत में उस समय भी (1929 से 38 के मध्य) ऐसे मठ और विद्यालय मौजूद थे। हालांकि चीनी कब्जे में जाने के बाद अब क्या स्थिति है, नहीं कहा जा सकता। ऐसे विद्याकेंद्रों का जिक्र करते हुए राहुल जी लिखते हैं, "खन्-छन् में छात्र रहते भी हैं, और वहीं पढ़ते भी हैं; इस प्रकार ये कालेज और बोर्डिंग दोनों हैं।"[14] यद्यपि इनमें छात्रावासी होने के बड़े कड़े नियम थे। अधिकतर छात्रावासों में रहने की अनुमति केवल उन विद्यार्थियों के लिए थी जो लामा बनने आते थे। गृहस्थ बनने की इच्छा रखने वालों को अपने घर से ही आ-जा कर पढ़ना होता था। अध्यापक भी दो तरह के थे, "निम्न श्रेणी के अध्यापकों को गे-र्थेन् (लेक्चरर) और ऊंची श्रेणी के अध्यापकों को गे-शे (प्रोफेसर) कहते हैं।"[15] शोध या विशेषज्ञता की उपाधि प्राप्त कर पाना वहाँ आसान बात नहीं थी। इसके लिए वहाँ भी हमारे नालंदा या तक्षशिला के विश्वविद्यालयों की तरह ही कड़ी परीक्षा से होकर गुजरना पड़ता था, "ल्हारम-पा (डॉक्टर या आचार्य) की पदवी सरकार की ओर से प्रतिवर्ष सिर्फ सोलह आदमियों को मिलती, और ऐसे ही विद्वानों को, जो शास्त्रार्थ और कड़ी मौखिक परीक्षाओं में पास होते हैं।"[16]

भारत से इसकी मूलबद्धता का सबसे बड़ा उदाहरण यह है कि उनके कई विहार नालंदा या विक्रमशिला जैसे हमारे विश्वविद्यालयों के आधार पर हैं। इतना ही नहीं, एक विहार तो वहाँ नालंदा नाम से ही है। ल्हासा से उत्तर की ओर के एक यात्रा वृत्तांत में राहुल जी लिखते हैं, "मध्यान्ह भोजन के उपरांत हमारा काफिला नालंदा के लिए रवाना हुआ। भारत के नालंदा के नाम पर जहाँ लंका में एक नालंदा है, वहाँ तिब्बत भी उससे वंचित नहीं है। प्राय: दो घंटे चलने पर हम नालंदा पहुँचे। यद्यपि स्थान निचले मैदान से कुछ ऊपर चढ़कर है; किंतु यहाँ भी मैदान सा ही है..... यह विहार पंद्रहवीं शताब्दी के आरंभ में ही बन गया था। निर्माता रोङ्-स् तोन् शाक्य ग्र्यल्-म्-छन् अपने समय के अच्छे दार्शनिक थे और चोङ्-ख-पा (1357-1419) के महाविद्वान शिष्य म्खस्-ग्रुव् (1385-1432) के प्रतिद्वंद्वी थे। किसी समय नालंदा तिब्बत का नालंदा था। चोङ्-ख-पा के अनुयायियों के डे-पुङ् आदि विहारों की भांति यह एक अच्छा विद्या-केंद्र था। इसमें दो ड-सङ् (1-सङ्स-छेन=महागुह्य2-म्छन्-ञिद्=दर्शन) हैं। प्रदेशों के क्रम से कई खम्-जन और छात्रावास भी हैं।"[17]

राहुल जी यह तो स्पष्ट नहीं करते कि बिना डांड़ी (शिरोरेखा) वाली लिपि को वहाँ औपचारिक रूप से अलग मान्यता प्राप्त है नहीं, लेकिन यह जरूर लिखते हैं, "भोट में सुलेख और शीघ्र-लेख की दो लिपियां हैं; जिन्हें क्रमश: ऊ-चेन् (डांड़ी वाली) और ऊ-मेद (बे डांड़ी वाली)। सर्वसाधारण को ऊ-मेद की ही अधिक जरूरत है, इसलिए भिक्षुओं को छोड़ कर बाकी लोग ऊ-मेद ही ज्यादा लिखते हैं।"[18] विद्यालयों या घरों पर आने वाले अध्यापक पढ़ाते भी भारतीय गुरुओं की ही तरह हैं। इसका कारण शायद यह है कि शिक्षा वहाँ गई ही भारत से। अब भारत में बच्चों को शारीरिक दंड देना स्कूलों में सैद्धांतिक रूप से प्रतिबंधित है। बमुश्किल बीस साल पहले तक यह बच्चों को पढ़ाई की ओर प्रवृत्त करने का एक कारगर उपाय माना जाता था। यद्यपि मामूली अंतर के साथ, "हमारे यहां के पुरानी चाल के गुरुओं की भांति तिब्बत में भी छड़ी को शिक्षा के लिए अनिवार्य तथा आवश्यक समझते हैं। कहीं भूल होने पर अध्यापक गाल फुलवा कर उस पर बांस या बेत की चौड़ी कमाच से फटकार कर मारते हैं।"[19]

शास्त्रार्थ की परंपरा

भारत की ही तरह तिब्बत में भी शास्त्रार्थ की परंपरा है। शास्त्रार्थ की यह परंपरा छात्रों के बीच भी है और विद्वानों के बीच भी। तरीके दोनों मामलों में एक जैसे ही हैं, भेद केवल विषय-वस्तु के स्तर का हो सकता है। तिब्बत के नालंदा वाले अपने यात्रा-वृत्तांत में ही राहुल जी इसका जिक्र करते हैं, "शाम को कुछ मिनटों के लिए शास्त्रार्थ वाली बगीची में (छोस्-रा) भी हो आए। बीस-पच्चीस आदमी कुल थे। खूब ताली पीटते, शोरगुल करते शास्त्रार्थ हो रहा था।"[20] इन शास्त्रार्थों में शोरगुल और नाटकीयता भले, लेकिन उद्दंडता नहीं होती। उनके नाटकीय तौर-तरीके पर राहुल जी की टिप्पणी देखें, "प्रश्नकर्ता अपने आसन से उठा। पहले उसने दोनों वृद्धों की वंदना कर उनसे प्रश्न करने की आज्ञा ली। फिर उसने धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक के संबंध में प्रश्न करना शुरू किए। प्रश्न का ढंग विचित्र था; कभी वह आगे बढ़ता था, कभी पीछे हटता था। एक एक प्रश्नकोटि पर एक हाथ की हथेली को दूसरे हाथ की हथेली पर पटकता था। माला को दोनों हाथों में लेकर धनुष से वाण छोड़ने का नाट्य करता था।"[21] प्रश्न का यह तरीका राहुल जी जैसे संस्कृत पाठशाला के विद्यार्थी रह चुके पंडित को आश्चर्यजनक लगा। उन्होंने अपने एक मित्र नैयायिक से पूछा, "क्यों जी, यह हाथ पीटना और माला को धनुष से वाण छोड़ने की तरह करना क्यों, तो उत्तर मिला। यह भोट की चीज थोड़े ही है,

यह तो नालंदा और विक्रमशिला से आई है; आप ही लोग इसके जिम्मेवार हैं। मैंने कहा, नालंदा और विक्रमशिला में इस नाट्यमुद्रा से शास्त्रार्थ तभी हो सकता था, यदि उस समय भारत में सर्वत्र इस तरह शास्त्रार्थ की प्रणाली होती, और ऐसी प्रणाली होती, तो उसका कुछ अवशेष काशी और मिथिला की पंडित-मंडली में आज भी जरूर पाया जाता; लेकिन वहां तो यह ढंग नहीं है। फिर एक दूसरे मित्र ने कहा शायद जे-रिन्पो-छे (चोङ्-ख-पा) ने चलाया हो।"[22]

भारत की प्रायः सभी बोलियों-भाषाओं के लोक-कलाकारों में यह प्रवृत्ति देखी जाती है कि समसामयिक राजनीतिक-सामाजिक घटनाक्रमों पर केंद्रित गीत रचते और गाते हैं। समसामयिक होने के नाते देखते ही देखते वह पूरे माहौल पर छा भी जाता है। यह प्रवृत्ति तिब्बत में भी उतनी ही गहरी और व्यापक है

लोककला की समानताएं

लोककलाओं, उनकी शैलियों और विषय-वस्तु में भी अद्भुत समानताएं दिखाई देती हैं और यही बात लोकरुचि के मामले में भी है। भारत की प्रायः सभी बोलियों-भाषाओं के लोक-कलाकारों में यह प्रवृत्ति देखी जाती है कि समसामयिक राजनीतिक-सामाजिक घटनाक्रमों पर केंद्रित गीत रचते और गाते हैं। समसामयिक होने के नाते देखते ही देखते वह पूरे माहौल पर छा भी जाता है। यह प्रवृत्ति तिब्बत में भी उतनी ही गहरी और व्यापक है। एक प्रतिष्ठित व्यक्ति का परकीया प्रसंग तक वहाँ गीत का विषय बन जाता है। ऐसे ही एक प्रसंग का जिक्र देखें, "यह घटना किसी को बड़ी ही आकर्षक मालूम हुई। उसने तुकबंदी करके बाजार में फेंक दी। दो-तीन में ल्हासा के सारे लड़के शो-गंङ् (सुर-खङ्) दे पोन् की क्लु (गीत) को बड़े राग से गाने लगे। दे-पोन् को कितने ही दिन तक घर से बाहर निकलने की हिम्मत न पड़ी।... सर्दार बहादुर ले-दन्-ला की पुलिस के बाल कटवाने पर भी किसी ने गीत बना डाला।"[23]

इसी तरह नाटक भी वहां भोजपुरी की बिदेसिया या मैदानी शैली की तरह साधारण भूमि को ही रंगमंच मानकर खेले जाते रहे हैं। भोटिया लोग नाटक में पर्दे का व्यवहार नहीं करते।[24] ध्यान रहे, परदे का व्यवहार भारत में भी यवनों के आक्रमण से पहले तक होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। यहां परदे के शब्द ही यवनिका (यवनों से संबंधित) व्यवहृत हुआ। संस्कृत के नाटकों की छाप इनके संवादों पर गेयता के रूप में देखा जा सकता है जो आज भी लोकनाट्य शैलियों में भारत में दिखाई देता है, "उच्चारण में कृत्रिमता बहुत थी। संवाद को सुन कर तो रामलीला के अस्वाभाविक उच्चारण याद पड़ जाते थे। गद्य संवाद को लोग समझ सकते थे।"[25] ऐसे नृत्य के तौर-तरीके भी भारत की कई शास्त्रीय और लोक शैलियों से मिलते जुलते हैं, "नाच में ताल-स्वर के साथ हाथ को पतंग लपेटने की तरह घुमाना, मंद गति से आगे-पीछे चलना, या चक्कर में घूमना पड़ता था, जो कि देखने में सुंदर मालूम पड़ता था।"[26]

उपसंहार

कलाओं, शिक्षा व्यवस्था और सामाजिक आचार व्यवहार से लेकर लोक आस्थाओं तक की यह समानता क्या केवल संयोग मात्र है? या फिर साधारण नकल? नहीं। यह न तो संयोग है और न ही नकल। यह वस्तुत दो अस्तित्व के बीच आपसी विश्वास और समझ का परिणाम है। सदियों तक रहे, घनिष्ठ संबंधों का परिणाम है। यह भारत और तिब्बत के बीच आपसी प्रगाढ़ता का प्रभाव है। बेशक, चीनी कब्जे ने तिब्बत की मूल संस्कृति को कुछ छोटे छोटे टुकड़ों में समेट कर सीमित कर दिया है। उन्होंने इसे केवल नुमाइशी या संग्रहालय यील्ड बनाकर रख छोड़ा है। कोई नहीं जानता कि अपने मूल स्थान पर यह कितनी बचेगी, बचेगी भी या नहीं। लेकिन परम पावन दलाई लामा के प्रयासों और भारत की सरकार के सहयोग से इसे बहुत हद तक सहेजने का प्रयास जारी हैं। उम्मीद करनी चाहिए कि यह सफल भी होगी।

संदर्भ

1. सांकृत्यायन राहुल *मेरी जीवन यात्रा, भाग-2, (किताब महल, इलाहाबाद, 1950)*
2. सांकृत्यायन राहुल *तिब्बत में सवा बरस, (शारदा मंदिर, नई दिल्ली) पृष्ठ 322*
3. *वही, पृष्ठ 189*
4. *वही, पृष्ठ 322*
5. *वही, पृष्ठ 322*
6. *वही, पृष्ठ 322*
7. *वही, पृष्ठ 134*
8. *वही, पृष्ठ 116*
9. *वही, पृष्ठ 126*
10. *वही, पृष्ठ 140*
11. *वही, पृष्ठ 151-152*
12. सांकृत्यायन राहुल *मेरी जीवन यात्रा, भाग-2, (किताब महल, इलाहाबाद, 1950) पृष्ठ 103-104*
13. सांकृत्यायन राहुल *तिब्बत में सवा बरस, (शारदा मंदिर, नई दिल्ली) पृष्ठ 321*
14. *वही, पृष्ठ 285*
15. *वही, पृष्ठ 285*
16. सांकृत्यायन राहुल *मेरी जीवन यात्रा, भाग-2, (किताब महल, इलाहाबाद, 1950), पृष्ठ 85*
17. सांकृत्यायन राहुल *मेरी तिब्बत यात्रा, (छात्रहितकारी पुस्तकमाला, 1937) पृष्ठ 10-11*
18. सांकृत्यायन राहुल *तिब्बत में सवा बरस, (शारदा मंदिर, नई दिल्ली), पृष्ठ 170*
19. *वही, पृष्ठ 170*
20. सांकृत्यायन राहुल *मेरी तिब्बत यात्रा, (छात्रहितकारी पुस्तकमाला, 1937) पृष्ठ 12*
21. सांकृत्यायन राहुल *तिब्बत में सवा बरस, (शारदा मंदिर, नई दिल्ली) पृष्ठ 308*
22. *वही, पृष्ठ 309*
23. *वही, पृष्ठ 279*
24. *वही, पृष्ठ 175*
25. *वही, पृष्ठ 175*
26. *वही, पृष्ठ 176*

के. धोंदुप

लद्दाख और भूटान में तिब्बत का प्रभाव

लद्दाख और भूटान क्षेत्र से तिब्बत के गहरे संबंध रहे हैं। व्यापार और सामाजिक रीति-रिवाजों के माध्यम से नियमित संपर्क के कारण इनके बीच सांस्कृतिक विनिमय भी खूब हुआ। सांस्कृतिक प्रभावों का एक विश्लेषण

प्रस्तुत निबंध का उद्देश्य लद्दाख और भूटान की संस्कृति व धर्म पर तिब्बत की संस्कृति के विशिष्ट प्रभाव पर प्रकाश डालना है। भूटान और लद्दाख तथा तिब्बत के बीच भैगोलिक और वंश परंपरा की समानता तो किसी भी अवेक्षक को सहज ही दृष्टिगोचर हो सकती है, किंतु इन क्षेत्रों के लोगों की आंगिक भाव-भंगिमाओं, आनुष्ठानिक क्रियाओं, भाषाओं और सामाजिक रीति-रिवाजों में समानता कहीं अधिक है। ये समानताएं किसी भी तरह से संयोगमात्र नहीं हैं, बल्कि इस अर्थ में प्रसूत हैं कि उनका मूल तिब्बत के देशावरी धार्मिक और सांस्कृतिक प्रभावों में निहित है। यदि लद्दाख और भूटान की सभ्यताओं पर एक अध्याय लिखा जाए, तो प्रेरणा का स्रोत, जिस पर ये सभ्याताएं आधारित थी, निश्चय ही तिब्बत होगा।

जहां बौद्ध धर्म सातवीं शताब्दीं में भारत से तिब्बत आया, तो वहीं भूटान और लद्दाख दोनों ने इसे तिब्बत से ग्रहण किया। ऐसा प्रतीत होता है कि बॉन (बॉन) अथवा शमन धर्म सभी तीनों देशों में बौद्ध धर्म से पहले आया। तिब्बत के लोग सन 650 ई. में पहली बार भूटान आए और तिब्बती मूल के भूटानी लोगों का इतिहास राजा त्र' ई राल-पा-शेन (ख्री राल-पा-शेन) के समय शुरू हुआ (आर. 816-36)। भूटान में तिब्बत का वर्चस्व राजा-दर्मा (ग्लांग-दर-मा) की हत्या (836-42) के बाद मध्य तिब्बत में एक गृहयुद्ध छिड़ जाने पर समाप्त हो गया, किंतु तब तक वहां रह रहे उन तिब्बती रक्षा सैनिकों ने, भूटान को एक व्यापक उपनिवेश बना लिया था, जिन्होंने वापस तिब्बत जाने से मना कर दिया था और इसीलिए उन्हें 'मी लोगद्' (वे जो वापस जाने से मना करें) कहा जाता था। गीशे गेदुन चोफेल (द्गे-ब्शेस द्गे-'दुन चोस-'फेल) के देव-थेर-कारपो (देव-थेर-द्कार-पो) के अनुसार, सम-या (ब्सम-यस) स्तूप के लिए भारत से अवशेष लाने हेतु राजा त्र' इ-सोंग (रत्री-सोंग) द्वारा मगध पर किए गए आक्रमण से तिब्बत लौटते समय घुड़सवार सैनिक भाग गए और हिमालयी क्षेत्रों में बस गए। ये भागने वाले सैनिक अंततः त-मब (र्त-द्मग) (अश्वारोही) कहलाए, जिनसे हिमालय क्षेत्र में कई पहाड़ी जातियों का जन्म हुआ, जैसे, नेपाल की तमांग जातियां।

लद्दाख के लिखित इतिहास में उनके आरंभिक राजाओं को लांग-दर्मा, तिब्बत का प्रो-बोउ राजा, का वंशज बताया गया है, जिसने तिब्बत से बौद्ध धर्म को उखाड़ फेंकने के अपने अभियान में मठों और मठवासियों को तहस-नहस कर डाला। लांग-दर्मा के वैध उत्तराधिकारी ओ-स्रंग ('ओद-स्रंग) ('प्रकाश रक्षित') ने तिब्बत के पश्चिमी क्षेत्रों में लद्दाख के निकट अपने साम्राज्य की स्थापना की। उसके उत्तराधिकारियों, गूग (पश्चिमी तिब्बत का प्राचीन राजवंश) के दो भाई राजाओं, जांग-चुब-वो (ब्यांग-चुब-'ओद) और येशे-वो (ये-शे-'ओद) ने तिब्बत में एक बार फिर से बौद्ध धर्म के उत्थान और प्रसार के लिए पंडित अतीश (बंगाली संत) को तिब्बत बुलाया।

नाम (नामावली)

प्राचीन ग्रंथों में लद्दाख को 'का-वा-शेन-पा' (का-बा-शेन-पा) अथवा हिम देश (लैंड ऑफ स्नो) का वासी कहा गया है। यह बहुत कुछ उस नाम के समान है, जिससे बहुधा तिब्बत को संबोधित किया जाता है: खा-वाइ-जोंग

(खा-बाइ-इजोंग्स) या हिम देश। डेविड फील्ड रीनी (1866) के अनुसार, भूटान का अर्थ है, 'भोटों अथवा तिब्बतियों का देश...इसकी वर्तनी और भी सही ढंग से फारसी और अरबी में स्तान के रूप में की जा सकती है, जिसका अर्थ है स्थान : जैसे हिंदुस्तान, अफगानिस्तान और बलूचिस्तान, क्रमशः हिंदुओं, अफगानियों और बलोचों का स्थान।' किंतु, रीनी के अनुसार, भूटान के नाम की एक और भी युक्तियुक्त उत्पत्ति शब्द, भोटस्तान की संस्कृत व्याख्या में निहित है, और वह है 'तिब्बत के भूखंड पर तिब्बत (भोट) का अंत'। नामों में ये समानताएं इस अर्थ में रोचक हैं कि संबद्ध देशों के वासियों के शारीरिक रूप-रंग और आंगिक भाव-भंगिमाओं में इतनी समानता है कि प्राचीन इतिहासकार अकसर उन्हें एक मानते रहे हैं और इन देशों के पारस्परिक सांस्कृतिक प्रभावों तथा शक्ति को लेकर भ्रम की स्थिति में रहे हैं।

इतिहास और भाषा

मूलतः, भूटान कामरूप (असम) का एक अंग था, किंतु उन राजनीतिक उथल-पुथलों के फलस्वरूप, जिन्होंने सन् 650 ई. में कामरूप के भास्करवर्मा की मृत्यु के बाद उत्तरी भारत को आंदोलित कर दिया था, इस छोटे राजवंश को उत्तर के आक्रमणों और अतिक्रमणों का शिकार होना पड़ा था और अंत में तिब्बत ने इस पर कब्जा कर लिया। लद्दाख के आरंभिक राजाओं के इतिहास को लांग-दर्मा के वंशजों से जोड़कर देखा सकता है। उसके आरंभिक इतिहास से पता चलता है कि तिब्बती और तिब्बती-मंगोली सेनाओं ने उस पर कई बार आक्रमण किए। एक बार तिब्बती-मंगोली सेना के आक्रमण के विरुद्ध लद्दाख की सहायता के लिए मुगल बादशाह शाहजहां ने एक विशाल सेना भेजी और साथ ही इस्लाम कबूल करने के लिए लद्दाख के राजा को विवश किया। किंतु, तिब्बती-मंगोलियाई सेना शीघ्र ही लौट आई और ल्हासा को हर वर्ष उपहार भेजने का वचन देकर लद्दाख के राजा को एक संधि पर हस्ताक्षर करने को विवश किया। उन दिनों लद्दाख को पश्चिमी तिब्बती साम्राज्य कहा जाता था, किंतु सन् 1846 में एक सिख सेनानायक जरोवर सिंह के आक्रमण के बाद, बल्तिस्तान के साथ लद्दाख भी कश्मीर के अधीन हो गया।

भूटान और लद्दाख का सातवीं शताब्दी से पहले का कोई लिखित इतिहास नहीं मिलता। उक्त युग से संबद्ध इन क्षेत्रों का प्रचलित साहित्य टुकड़ों में बंटा हुआ है। भूटान की प्रलयंकारी आग ने सन् 1828 में सोनागाछी के मुद्रण संस्थान और 1832 में पुनखा को जला कर राख कर डाला और सन् 1846 के भूकंप के फलस्वरूप वे बहुमूल्य पांडुलिपियां तहस-नहस हो गईं, जिनसे भूटान और उसके निवासियों पर अपेक्षित प्रकाश पड़ सकता था। लेखन पद्धति की कमी के कारण भी इन क्षेत्रों के ऐतिहासिक दस्तावेज प्रकाश में नहीं आ सके। सातवीं शताब्दी में थोन्मी संभोट द्वारा विकसित तिब्बती यू-चान (द्बू-चान) एकमात्र पद्धति है, जिससे वे अवगत थे। किंतु, संभव है कि यह पद्दित भी इन क्षेत्रों में अपने विकास के कुछ शताब्दियों बाद पहुंची हो। स्थानीय स्तर पर लेखन पद्दित में हुए बदलावों के बावजूद एकमात्र लिपि के रूप में आज यह पद्धति प्रचलित है।

द्जोंगखा भाषा भूटान की राजभाषा है, जो मध्य भूटान में बोली जाने वाली भुमथंगखा और पूर्वी भूटान में बोली जाने वाली सर्चकपा के साथ भूटान के पश्चिमी और उत्तरी क्षेत्रों में बोली जाती है, और प्राचीन यू-चान इन सभी भाषाओं की लिपि है। यद्यपि भूटानी बोलियों और तिब्बती भाषा की शैलियां एक दूसरे से भिन्नी दिखाई देती हैं, किंतु इनका मूल वस्तुतः तिब्बती ही है।

तिब्बती भाषा लद्दाख की, खास तौर पर सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण शहर लेह की मूल भाषा थी, और संस्कर, स्पीति, खुन्नू (बुशहर), मायुल लद्दाख, प्यूमरिंग तथा बल्तिस्तान के क्षेत्र आज भी पश्चिमी तिब्बती भाषी क्षेत्रों के रूप में जाने जाते हैं। किंतु, बीतते समय के साथ स्थानीय तिब्बती बोली ने इतर तिब्बती शब्दों व मुहावरों को अंधाधुंध तरीके से आत्मसात कर लिया, जिन्होंने, अधिकांश स्थितियों में, मूल तिब्बती के शब्दों का स्थान ले लिया, जिससे मूल तिब्बती लुप्तप्राय हो गई। तिब्बती शब्दों के स्थान पर अब कश्मीरी, हिंदुस्तानी या यहां तक कि तुर्की शब्दों का भी प्रयोग किया जाने लगा।

सामाजिक रीति-रिवाज

लद्दाख और भूटान में तिब्बत के जेसार महाकाव्य के जेसार युद्ध गाथाओं के साथ-साथ धार्मिक मुखौटा नृत्य और लोक गीत अति लोकप्रिय हैं। प्रत्येक उत्सव झांझों, क्लैरिनेटों और ढोलकों के संगीत तथा एक धार्मिक सुर के साथ आरंभ होता है। यह सुर-संगीत तिब्बत के किसी न किसी उत्सव के पवित्र परिमंडल का सूचक है। मुखौटा नर्तक समस्त दर्शक मंडल का मनोरंजन करते हैं और इस कार्यक्रम के बीच कुछ-कुछ समय पर विदूषक सरस और अश्लील हास-परिहास प्रस्तुत करते रहते हैं। इसके विपरीत, तिब्बत में धार्मिक नृत्य अथवा छम को इतना पवित्र माना जाता है कि अभिनय कार्यक्रमों में किसी भी प्रकार के अपवित्र अथवा अश्लील परिहास की अनुमति नहीं होती। किंतु ल्हामो अथवा तिब्बती ओपेरा में इस अश्लील हास को पूरी अनुमति होती है, जहां विषय हमेशा बुराई पर अच्छाई की विजय होती है। यहां यह उल्लेखनीय है कि भूटान में ल्हामो को राजकीय संरक्षण प्राप्त नहीं है, इस तथ्य के बावजूद कि प्रख्यात वास्तुकार द्र'उब-थॉब थांग-थोंग ग्यालपो (ग्रब-थॉब थांग-स्तोंग

भूटान और लद्दाख का सातवीं शताब्दी से पहले का कोई लिखित इतिहास नहीं मिलता। उक्त युग से संबद्ध इन क्षेत्रों का प्रचलित साहित्य टुकड़ों में बंटा हुआ है। भूटान की प्रलयंकारी आग ने सन् 1828 में सोनागाछी के मुद्रण संस्थान और 1832 में पुनखा को जला कर राख कर डाला और सन् 1846 के भूकंप के फलस्वरूप वे बहुमूल्य पांडुलिपियां तहस-नहस हो गईं, जिनसे भूटान और उसके निवासियों पर अपेक्षित प्रकाश पड़ सकता था

ग्र्याल-पो) ल्हामो के प्रवर्तक थे जो कभी भूटान आए थे और पारो घाटी के पश्चिमी किनारे पर बेलनाकार मंदिर (सिलिंडर टेंपल) का निर्माण किया था और भूटान की नदियों पर जिनके प्रसिद्ध पुल आज भी दिखाई देते हैं।

आधुनिकीकरण के प्रयासों के बावजूद, अंधविश्वास और गूढ़ आनुष्ठानिक क्रियाओं के चलन के कारण लद्दाख और भूटान के राज्य, आज भी रूढिवाद से मुक्त नहीं हो पाए हैं। मठ, कुलीन तांत्रिक शासन व्यवस्था, और देहाती खेतिहर सामंती प्रथा के एक मध्यकालीन रियासत की याद दिलाते हैं। एक पत्नी विवाह, बहुपति और बहुगमन प्रथाएं सब साथ-साथ प्रचलित हैं। मृतक संस्कार से संबद्ध क्रियाकर्म लद्दाख और भूटान दोनों में तिब्बतियों के समान ही पूरे किए जाते हैं। मृतकों के लिए लामाओं और आश्रमों-मठों को चढ़ावा चढ़ाए और दिवंगत आत्मा के लिए प्रार्थना ध्वज तथा त'अंग-कस (थंग-का) खड़े किए जाते हैं। संस्कार की सही तिथि का निर्धारण ज्योतिषीय गणना कर किया जाता है और मृत शरीर को उनचास दिनों तक रखा जाता है और इस अवधि के दौरान मृतक के समक्ष बार्दो थोड्रोल (बार-दो ग्थो-ग्रोल) (मृतक का तिब्बती ग्रंथ) का वाचन किया जाता है। मृतक के इन संस्कारों के चलते एक औसत परिवार को भारी आर्थिक बोझ का सामाना करना पड़ता है और वह आने वाले कई वर्षों तक ऋण से घिरा रहता है। यदि मामला किसी उच्च लामा अथवा राजा का हो, तो यह संस्कार समारोह दो वर्षों तक चलता रह सकता है।

व्यापार

व्यापार सांस्कृतिक विनिमय और प्रभाव का एक महत्वपूर्ण माध्यम था। लद्दाख की राजधानी लेह मध्य एशिया में विनिमय का प्रधान केंद्र था और अपने-अपने सामानों को बेचने के लिए तिब्बत, हिंदुस्तान, तुर्किस्तान तथा चीन के व्यापारियों के काफिले इससे होकर गुजरते अथवा यहां एकत्र हुआ करते थे। भूटान असम और बंगाल से रंग, कच्ची रेशम, अखरोट, तंबाकू मंगाता और बदले में उन्हें तिब्बत का ऊन, चाय, नमक और कस्तूरी निर्यात किया करता था। तिब्बत में

आधुनिकीकरण के प्रयासों के बावजूद, अंधविश्वास और गूढ़ आनुष्ठानिक क्रियाओं के चलन के कारण लद्दाख और भूटान के राज्य, आज भी रूढिवाद से मुक्त नहीं हो पाए हैं। मठ, कुलीन तांत्रिक शासन व्यवस्था, और देहाती खेतिहर सामंती प्रथा के एक मध्यकालीन रियासत की याद दिलाते हैं। एक पत्नी विवाह, बहुपति और बहुगमन प्रथाएं सब साथ-साथ प्रचलित हैं

विक्रय के लिए वे अपने स्थानीय माल जैसे मसाले, इमारती लकड़ी, कृषि उत्पाद आदि का विनिमय भी करते थे। भूटान का एक शहर हाह, जहां चम-ब'इ (चुम-'बी) घाटी से जाने में दो दिन लग जाते थे, तिब्बत और भूटान के व्यापार का एक व्यस्त केंद्र था और अभी हाल तक भारी संख्या में घोड़ों और भारवाहक खच्चरों के काफिलों का वहां आना-जाना होता रहा था।

कला और वास्तुकला

चित्रकला, मूर्तिकला, भित्ति मूर्तिकलाओं, भित्ति अस्तरकारी चित्रकलाओं, तिब्बती कला आदि का प्रत्यक्ष और विशेष प्रभाव था। किंतु भूटानी कला में तिब्बती कला व वास्तुकला की तरह नेपाल के नेवारी कलाकारों और शिल्पकारों की शैलियों की छाप स्पष्ट देखी जा सकती है। नेवारी कलाकारों को दरबार का संरक्षण प्राप्त था और तिब्बत तथा भूटान के दरबारों में उन्हें अपने कला-कौशल का अधिक से अधिक विकास करने को प्रोत्साहित किया जाता था। त'अंग-का चित्रकला की मठ कलाओं, धार्मिक मुखौटों, लद्दाख और भूटान के द्जोंगों और मंदिरों की अंदरूनी भित्ति अस्तरकारी चित्रकलाओं में तिब्बत की धार्मिक कला की विशिष्ट शास्त्रीय भव्यता का पुट दिखाई देता है।

चिकित्सा-पद्धति और ज्योतिषशास्त्र

भूटान को कभी-कभी 'वैद्यक-भूमि' कहा जाता है। किंतु भूटान और लद्दाख में प्रचलित चिकित्सा और उपचार पद्धति वस्तुत: तिब्बती चिकित्सा विज्ञान से ली गई एक पद्धति है - एक विज्ञान जिसने तिब्बत में शताब्दियों से पर्याप्त कौशल और विशेषज्ञता हासिल की है। वस्तुत: भूटान के चिकित्सकों को अध्ययन के लिए ल्हासा के चोक-पो-री (ल्चोग-पो-री) चिकित्सा महाविद्यालय भेजा जाता था। दवा के लिए तिब्बत भूटान से जड़ी-बूटियों का आयात करता था।

भूटान और लद्दाख जैसे परंपरानिष्ठ समाजों में, जहां जीवन के अनिष्टों को समझने के प्रयास में लोग ज्योतिषीय गणनाओं का सहारा लिया करते थे, ज्योतिषशास्त्र की एक महती भूमिका होती थी। तिब्बत में प्रचलित दो ज्योतिषीय पद्धतियों - चीन का मंजुश्री ज्योतिष और भारत का कालचक्र तांत्रिक ज्योतिष - में से भूटानियों ने कालचक्र तांत्रिक ज्योतिष को अपनाया है और उनके पंचांग चांद्र मासों पर आधारित हैं।

धर्म

भूटान और लद्दाख में तिब्बती बौद्ध धर्म का अत्यधिक प्रभाव रहा है। द्रग-युल ('ब्रग-युल) तिब्बती बौद्ध धर्म परंपरा का-ग्यू-पा (ब्का'-ग्युद-पा) के द्रग-पा संप्रदाय की भूमि है। यह धर्म सन् 1616 से राज्य का धर्म रहा है, जब दक्षिणी तिब्बत के लामा नांगमार नामग्यायल (ब्ला-मा नांग-मार) ने एक ठोस आधार पर इसे प्रतिष्ठापित किया। किंतु, भूटान में तिब्बत का बौद्ध धर्म, खास तौर पर न्यिंगमापा (न्यिंग-मा-पा) संप्रदाय का प्रवेश बहुत पहले आठवीं शताब्दी में हुआ जब योगिनियों, भूत-पिशाचों और दुष्ट आत्माओं को पराभूत करने के बाद गुरु पद्मसंभव भूटान के ल्हासा में सम-या (ब्सम-यस) के निर्माण स्थल पर आए और राजा त्र'-सोंग दे'उ-त्सान (ख्रि-स्रोंग ल्दे'उ-ब्तजाम) के आग्रह पर तिब्बत में तंत्र शब्द का प्रचार-प्रसार किया। लद्दाख तिब्बती बौद्ध धर्म का समर्थन भी करता है और कुछ कू-शोंग (स्कू-शोंग्स) अथवा लद्दाख के प्रधान लामा तिब्बती चिकित्सा विज्ञान के पुरोधा यू-थोग योन-तान (ग्यू-थोग योन-तान म्गोन-पो) को अपने

वंश-वृक्ष का मूलपुरुष मानते हैं। इस संदर्भ में उल्लेखनीय है कि जिस समर्पण के साथ लद्दाखियों ने धर्म गुरु दलाई लामा द्वारा हाल में (सन् 1976 में) आयोजित कालचक्र समारोह में भाग लिया, वह क्षेत्र में तिब्बती धर्म के प्रभाव का तथा जिस आदर व प्रेम के साथ तिब्बती और लद्दाखी लोग अपने पूर्वजों के अतीत का सम्मान करते हैं उसका एक जीता-जागता प्रमाण है।

लद्दाख में हेमिस आश्रम और भूटान में थिंफू द्जोंग की युगों पुरानी पवित्रता और महिमा तिब्बत के लोगों को एक परिचित त्सुग-लाग-खांग के रूप में दिखाई देती है, जहां कोई पूजा के दीप प्रज्वलित तथा अपने सभी साथी जीवों के कल्याण के लिए प्रार्थना कर सकता है। भूटान और लद्दाख पर बौद्ध धर्म व उसके आनुष्ठानिक क्रियाओं का गहरा प्रभाव था। यदि तिब्बत शिक्षा के मातृ स्रोत के रूप में भारत की आर्यभूमि की ओर देखता था और ज्ञान व विद्या प्राप्त करने के लिए तिब्बती विद्वान हिमालय की दुर्गम पर्वत शृंखलाओं को पार कर यहां आने का दुस्साहस करते थे, तो वहीं भूटानी, लद्दाखी और यहां तक कि मंगोल व चीनी भी आध्यात्मिक मार्गदर्शन और ज्ञान के लिए ल्हासा आते थे। हालांकि चीनी शासकों और भारतीय पंडितों से थोड़े समय के अपने संपर्क को छोड़कर तिब्बत शेष विश्व से कटा ही रहा, किंतु भूटान और लद्दाख का, भारत के अतिरिक्त, तिब्बत से संपर्क अन्य किसी भी देश से अधिक गहरा था। किंतु, इन दोनों देशों पर तिब्बत के धर्म और संस्कृति का अत्यधिक प्रभाव था, भारत के धर्म और संस्कृति का नहीं। हालांकि तिब्बती धर्म और संस्कृति में भारत और चीन दोनों के प्रभाव के तत्व निहित हैं, किंतु तिब्बत का धार्मिक-सांस्कृतिक प्रभुत्व, जिसने भूटान और लद्दाख में स्वयं को स्थापित किया, नितांत रूप से उसका अपना था।

यदि भूटान और लद्दाख के राज दरबारों में तिब्बती धर्म व संस्कृति का प्रवेश नहीं हुआ होता, तो ये दोनों क्षेत्र आध्यात्मिक स्तर पर हीन और उस व्यापक हित से वंचित होते, जो आज सांस्कृतिक प्रभुत्वों के चलते सामने आया है। जहां तिब्बत के बौद्ध धर्म के प्रयास से लोगों की आक्रामकता में कमी आई है, जैसी कि इसी धर्म के प्रयास से तिब्बत में आई थी, वहीं इसके साथ ही एक शिष्ट आचार संहिता का विकास भी हुआ है, जिसका आधार करुणा है। हिमालय क्षेत्र के ये दो राज्य संभवतः 20वीं शताब्दी में धर्म प्रेरित रूढिवाद और प्राचीन सामंतवाद के कुछ जीवित अंतिम गढों में से एक हैं।

साभार : द *टिबेट जर्नल*, खंड 2, अंक 2, ग्रीष्म 1977

पोताला महल का इतिहास

ल्हासा शहर के उत्तर पश्चिमी भाग में लाल पहाड़ी पर स्थित पोताला महल तिब्बती वास्तु का अनुपम उदाहरण है। इसका निर्माण सातवीं शताब्दी में शुरू हुआ था। यह वह समय था जब तिब्बत के राजा सुङ्चाङ्कांबू थाङ राजवंश की राजकुमारी वुनछङ से विवाह करने वाले थे। 1300 साल पहले हुए इस विवाह की रोचक कहानी आज भी तिब्बती लोगों की जबान पर है।

पोताला का अर्थ है पुतल। पुतल अवलोकितेश्वर के निवास द्वीप का नाम है। इसलिए पोताला भी दूसरा पुतल पर्वत कहलाता है। जिस लाल पहाड़ी पर यह बना है, समुद्रतल से उसकी ऊँचाई तीन हजार सात सौ मीटर है। चोटी पर फैले इस महल का क्षेत्रफल तीन लाख 60 हजार वर्ग मीटर है। इसके बाहरी हिस्से में आगे पीछे तीन दीवारें थीं। भीतरी महल समूह में हजार से अधिक भवन थे, जो तु पो राज्य का राजनीतिक केंद्र रहा था।

नौवीं शताब्दी में तु पो राज्य का पतन हुआ। इसके बाद तिब्बत में लंबे अरसे तक गृह युद्ध चलता रहा। लाल पहाड़ी भवन भी युद्ध से ग्रस्त होकर खंडहर बन गया। वर्ष 1645 से पांचवें दलाई लामा ने लाल पहाड़ी भवन का पुनः निर्माण करना शुरू किया, इसका प्रमुख स्थापत्य निर्माण करीब पचास साल तक चला। इसके पश्चात विभिन्न कालों में महल का विस्तार किया गया, जो कुल तीन सौ साल तक जारी रहा।

पोताला महल बाहर से देखने में 13 मंजिला विशाल और 110 मीटर ऊंचा है। महल समूह पत्थर और लकड़ी से निर्मित हुआ है, महल की दीवारें ग्रानेट पत्थर से बनी है, जो पांच मीटर तक मोटी है, दीवार की नींव पहाड़ी चट्टानों के अन्दर बहुत गहरी बनाई गई है। दीवार के बाहरी हिस्से में लोहे का पानी भी डाला गया है। इससे पूरे महल की मजबूती और भूचालरोधक क्षमता काफी बढ़ गई।

पोताला महल के विभिन्न भवनों की बाहरी छतों पर सोने के मीनार और सोने के ध्वज स्तंभ बनाए गए हैं, जो सुंदर सजावट के साथ साथ ऊंचे महल को आकाशी वज्रपात से बचाने का काम भी आता है। सदियों से पोताला महल भूकंप तथा आकाशी वज्रपात की परीक्षा में खरा उतरा है। पहले दलाई लामा से लेकर 13वें दलाई लामा तक के सब पार्थिव शरीर पोताला महल में समाधिस्थ हुए हैं। उनके लिए स्तूप बनाए गए हैं। हर स्तूप पर सोने के पन्ने जड़ित हैं व अत्यंत मूल्यवान रत्नों से सजा है। ■

भारत में प्रवासी तिब्बती: प्रवास और निवास का द्वंद्व

जावेद अहमद

तिब्बत पर चीन का कब्जा होने के साथ ही वहाँ मूल निवासियों के लिए जीवन दुरूह से दुरूहतर होता गया। परिणाम है पलायन। बड़ी संख्या में लोगों ने वहाँ से पलायन किया जो आज भारत सहित कई देशों में बसे हुए हैं और त्रासद सच यह कि उन्हें शरणार्थी का दर्जा तक हासिल नहीं हो सकता

विशेषकर 1950 से अपने क्षेत्र में राजनीतिक अस्थिरता के चलते तिब्बती समुदाय को मानवाधिकारों का जो निरंतर हनन झेलना पड़ा है उस कारण से वे अत्यंत निराशाजनक स्थितियों में पहुंच गए हैं। इन स्थितियों की वजह से उन्हें पड़ोसी देशों में, जिनमें भारत प्रमुख है निर्वासित जीवन जीने के लिए मजबूर होना पड़ा है। निर्वासन की स्थिति में जिस धैर्य और संयम का परिचय इस समुदाय ने दिया है उससे सारी दुनिया का ध्यान इसकी ओर आकर्षित हो गया है। प्रस्तुत आलेख भारत में रह रहे प्रवासी तिब्बतियों को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में समझने का प्रयत्न तो है ही, साथ ही यह उन अनेक मुद्दों का विश्लेषण भी करता है जिनका सामना यह समुदाय अपनी निर्वासित स्थिति में कर रहा है। लंबे समय से केंद्रीय तिब्बती प्रशासन ने स्वतंत्र तिब्बत के जिस स्वप्न को पोषित किया है उसे लेकर निर्वासित तिब्बती समुदाय के प्रति इस तिब्बती प्रशासन की भूमिका को भी यह आलेख रेखांकित करता है। यह आलेख विभिन्न मुद्रित और इलेक्ट्रॉनिक संचार माध्यमों से प्राप्त सूचनाओं के विश्लेषण पर आधारित है।

भूमिका

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही विश्व भर में सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्थाओं की जो कल्पनातीत अस्थिरता देखने को मिलती है, उसके चलते उपरोक्त सभी क्षेत्रों में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से बहुत बड़े परिवर्तन हुए हैं । इसका परिणाम यह हुआ है कि विश्व के लगभग हर देश में व्यापक जनांदोलन देखने को मिले हैं। क्षेत्रीय, राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्तरों पर एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर लोगों के पलायन की घटनाओं में वृद्धि हुई है। इसके साथ ही प्रवासी और राष्ट्रेतर समुदायों का भी निर्माण हुआ है जिनके अंतर्गत अधिकाधिक संख्या में ऐसे लोग आते चले गए हैं जो अपने मूलभूत स्थानों और नए देशों के बीच बंटे हुए हैं। आजकल देशों में अपने प्रवासियों की अस्मिता को लेकर दुविधा की स्थिति तो दिखाई देती है परंतु इसके साथ ही अपने अनिवासियों के परिक्षेत्र का विस्तार करने के लिए गंभीर प्रयत्नशीलता के दर्शन भी होते हैं। पर इस प्रयत्नशीलता को लेकर भी दुचित्ते की स्थिति दिखाई देती है। परंतु इसके अतिरिक्त भी कुछ अव्यक्त परंतु महत्त्वपूर्ण मुद्दे हैं। जैसे प्रवासी लोग मूल देश को छोड़कर जिस देश में रहने लगते हैं उसके प्रति अनन्य प्रतिबद्धता दिखाते हैं। यह अनेक स्तरों पर चिंता का विषय हो जाता है। आर्थिक, धार्मिक और राजनीतिक अनिश्चितताओं की खींचतान हो या औद्योगीकरण, आधुनिकीकरण या भूमंडलीकरण से उत्पन्न संपर्क की वृद्धि, क्रांतिकारी उत्साह के चलते लोग जितनी भी अंतर्देशीय यात्राएं करें या दूरसंचार की आभासी दुनिया में एक दूसरे से जुड़ें, इन सभी स्थितियों से लोगों के बीच अनेक स्तरों पर आदान-प्रदान में आश्चर्यजनक वृद्धि हो जाती है जिससे उनके प्रवासी होने की संभावनाएं भी उतनी ही बढ़ जाती हैं। ऐसी स्थितियां सामने आती हैं तो इन्हें समझने और इनका श्रेणीकरण करने की आवश्यकता भी पैदा हो जाती है। ऐतिहासिक दृष्टि से आकलन करते हुए कोहेन ने प्रवास की स्थितियों की पांच श्रेणियां तय की हैं। ये श्रेणियां हैं-पीड़ित (अफ्रीकी-अमरीकी, यहूदी और आर्मेनियाई), राजसी (ब्रिटिश), श्रमिक (भारतीय), व्यापारी (चीनी) और सांस्कृतिक (कैरेबियाई)। ये स्थितियां मूल जनसंख्या के

बिखराव को तो दर्शाती हैं परंतु इनसे तिब्बती प्रवासियों की व्याख्या नहीं हो सकती। गैब्रियलशाफर प्रवास की स्थितियों को राज्य-केंद्रित प्रवास और राज्य-रहित प्रवास की स्थितियों में बांटते हैं। यह श्रेणीकरण राष्ट्र-राज्य से जुड़ी प्रवासियों की अस्मिता/संबद्धता/असंबद्धता पर आधारित है और इससे तिब्बती प्रवासियों की अधिक सटीक व्याख्या होती है। इस श्रेणीकरण की व्याख्या करते हुए शाफर लिखते हैं कि राज्य-केंद्रित प्रवासियों के अंतर्गत वे सभी प्रवासी आते हैं जो कुछ स्थापित राज्यों में बहुसंख्या में होते हैं। मूलत: वे उन समाजों से अलग नहीं होते जहां उनका जातीय मूल होता है। इसके विपरीत राज्य-रहित प्रवासी वे होते हैं जो अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित करने में असफल हो चुके होते हैं। तिब्बती प्रवासी इसी श्रेणी के अंतर्गत आते हैं। यद्यपि तिब्बती प्रवासी एशिया, अमरीका, यूरोप, ऑस्ट्रेलिया में काफी बड़ी संख्या में हैं फिर भी भारत के तिब्बती प्रवासी विश्व के विशालतम प्रवासी तिब्बती समुदाय के रूप में अपनी उपस्थिति दर्ज कराते हैं।

तिब्बतियों का भारत में आगमन और प्रवासी तिब्बती

तिब्बती समुदाय के विस्थापन का इतिहास आरंभ होता है 1949 से जब चीन ने तिब्बत पर आक्रमण करके मानवाधिकारों के हनन का सिलसिला आरंभ किया। मानवाधिकारों का यह हनन 1959 तक जारी रहा। उसी वर्ष तिब्बत की प्रशासनिक राजधानी ल्हासा में विद्रोह भड़क उठा जिसके बाद चीन ने समूचे तिब्बत को अपने अधिकार में ले लिया। उसके बाद वह दर्दनाक विस्थापन घटित हुआ जिसमें परम पवित्र 14वें तेन्सिनग्यात्सो के साथ लगभग 80,000 तिब्बती अपना देश छोड़कर भारत आ गये। उसके बाद अनेक बरसों तक तिब्बती विस्थापित भारत आते रहे। मोटे तौर पर तिब्बतियों के विस्थापन को तीन चरणों में बांटा जा सकता है।

पहला चरण

1959 में जब कम्युनिस्ट चीन ने तिब्बत पर आक्रमण करके समूचे तिब्बत पर कब्जा कर लिया तो तिब्बतियों ने विद्रोह कर दिया। यहीं से विस्थापन का पहला चरण आरंभ हुआ। परम पवित्र 14वें दलाई लामा हिमालय के पर्वतों से होते हुए भारत आ गए और उसके बाद 1960 तक लगभग 80,000 तिब्बती विस्थापित होकर भारत आ गए थे।

द्वितीय चरण

चीनियों के उत्पीड़न के चलते अपनी जन्मभूमि को छोड़कर तिब्बतियों के भारत आने का दूसरा दौर 1980 के दशक के आरंभ में देखने को मिलता है। भूटान में नागरिकता की समस्या के कारण लगभग 3100 तिब्बती 1980 से 1985 तक भूटान छोड़कर भारत आने के लिए मजबूर हो गए। समस्या यों थी कि भूटान की सरकार तिब्बतियों को भूटान की नागरिकता स्वीकार करने के लिए मजबूर कर रही थी। तिब्बती ऐसा नहीं करना चाहते थे इसलिए भारत की ओर से हरी झंडी मिलते ही 3100 तिब्बती भारत में प्रवेश कर गए। 1986 से 1996 तक तिब्बत को व्यापार और पर्यटन के लिए खोला गया तो लगभग 25000 तिब्बती भारत में प्रवेश कर गए। भारत में पहले ही से रह रहे तिब्बती समुदाय की संख्या में काफी वृद्धि हो गई।

विस्थापन के इन दो चरणों के बाद तिब्बतियों के विस्थापन का तीसरा चरण आरंभ होता है 1996 से जो आज तक जारी है। चूंकि यह विस्थापन धीरे-धीरे हो रहा है और इसलिए स्पष्ट नहीं है, इस कारण से इसे दूसरे चरण के विस्तार के रूप में ही देखा जा सकता है।

आज भारत में लगभग 1,50,000 तिब्बती शरणार्थी रह रहे हैं। ये लोग 37 अलग-अलग बस्तियों 70 बिखरे हुए समूहों के रूप में बसे हुए हैं। नीचे दी गई तालिका में भारत के विभिन्न राज्यों में रह रहे तिब्बती शरणार्थियों की जनसंख्या के आंकड़े दिये गए हैं।

भारत के विभिन्न राज्यों में रह रहे तिब्बती शरणार्थियों की जनसंख्या

राज्य	जनसंख्या
कर्नाटक	75000
प. बंगाल	24000
दिल्ली	14000
उत्तरांचल	9800
हिमाचल प्रदेश	9600
अरुणाचल प्रदेश	5700
जम्मू-व-कश्मीर	2300
महाराष्ट्र	2200
उत्तर प्रदेश	1800
असम	800
अन्य	3800
कुल	149000

निर्वासित तिब्बतियों के पुनर्वास और तिब्बत में स्वतंत्रता और शांति का वातावरण तैयार करने के लिए परम पवित्र दलाई लामा तेन्जिनग्यात्सो ने 29 अप्रैल 1959 को हिमाचल प्रदेश के धर्मशाला कस्बे में निर्वासन में जनतांत्रिक सरकार की स्थापना की। 'केंद्रीय तिब्बती प्रशासन (Central Tibetan Administration)' जिसे 'निर्वासित तिब्बती सरकार (Tibetan Government in Exile)' के नाम से भी जाना जाता है। यह एक ऐसा संगठन है जो तिब्बत की आधिकारिक और वैध सरकार होने का दावा करता है। हालांकि किसी भी देश ने 'केंद्रीय तिब्बती प्रशासन' को निर्वासित सरकार के रूप में मान्यता नहीं दी है, फिर भी संसार भर की अनेक सरकारों और अंतरराष्ट्रीय संगठनों से इसे काफी आर्थिक सहायता प्राप्त होती है। 'केंद्रीय तिब्बती प्रशासन' एक संवैधानिक जनतांत्रिक राज्य के समान है, जिसकी अपनी चुनी हुई

तिब्बती समुदाय के विस्थापन का इतिहास आरंभ होता है 1949 से जब चीन ने तिब्बत पर आक्रमण करके मानवाधिकारों के हनन का सिलसिला आरंभ किया। मानवाधिकारों का यह हनन 1959 तक जारी रहा। उसी वर्ष तिब्बत की प्रशासनिक राजधानी ल्हासा में विद्रोह भड़क उठा जिसके बाद चीन ने समूचे तिब्बत को अपने अधिकार में ले लिया

संसद और प्रधानमंत्री है। परंतु दलाई लामा को दिव्य पथ-प्रदर्शक मानने की परंपरा तिब्बती समुदाय में बहुत गहरे बसी हुई है जो कि 'केंद्रीय तिब्बती प्रशासन' की जनतांत्रिक परंपरा से विचलन को प्रदर्शित करती है। 'केंद्रीय तिब्बती प्रशासन' की जनतांत्रिक प्रवृत्ति को बनाए रखने के लिए तो दलाई लामा इस हद तक भी गए कि उन्होंने एक ऐसा नियम भी बनाया जिसके अनुसार लोगों की इच्छा हो तो दलाई लामा को हटाया भी जा सकता है। परंतु आज स्थिति यह है कि निर्वासित तिब्बती उन्हें अपना निर्विवाद नेता मानते हैं और अधिकांश तिब्बती 'केंद्रीय तिब्बती प्रशासन' को अपनी एकमात्र वैध सरकार मानते हैं जिसके मुखिया परम पवित्र दलाई लामा हैं। एक तिब्बती लेखक और कार्यकर्ता ल्हासांगछेरिंग के अनुसार "दलाई लामा हमारी सबसे बड़ी ताकत और सबसे बड़ी कमजोरी हैं।" समूचा तिब्बती समुदाय न केवल दलाई लामा को अपना नेता मानता है अपितु उन पर निर्भर भी करता है। अत: 'केन्द्रीय तिब्बती प्रशासन' की संरचना में जनतांत्रिक सरकार के विपरीत एक ऐसी सामंती व्यवस्था के तत्त्व मिलते हैं जो चीनी कब्जे से बहुत पहले से मौजूद हैं। इसकी संरचना में इसके जनक के समानतावाद और उदारता का प्रतिबिंब दिखाई देता है क्योंकि उन्होंने बौद्धमत और पश्चिमी राजनीतिक अवधारणाओं के सम्मिलन को स्वीकृति दी है। केंद्रीय तिब्बती प्रशासन अंतरराष्ट्रीय समर्थन के साथ-साथ अपने संघर्ष के लिए व्यापक सहायता प्राप्त करने में भी सफल रहा है। तिब्बती धर्म और संस्कृति को प्रोत्साहित करके यह निर्वासित तिब्बतियों में एकता तो स्थापित करता ही है, साथ ही यह अहिंसक, मैत्रीपूर्ण तिब्बती राष्ट्र की अस्मिता को बनाए रखने के लिए भी कार्य करता रहता है। अपने परंपरागत प्रतीकों का इस्तेमाल करके एक तरफ तो इसने तिब्बती अस्मिता को सामने रखा है तो दूसरी ओर अपने लोगों में अपने राष्ट्र के लिए प्रतिबद्धता की भावना को भी जीवित रखा है।

प्रवासी तिब्बती : दोहरे अनुभव संसार की त्रासदी

प्रवासी तिब्बतियों के लिए आज समय ऐसा है कि वे देशविहीनता और देशप्राप्ति की

'केंद्रीय तिब्बती प्रशासन' की जनतांत्रिक प्रवृत्ति को बनाए रखने के लिए तो दलाई लामा इस हद तक भी गए कि उन्होंने एक ऐसा नियम भी बनाया जिसके अनुसार लोगों की इच्छा हो तो दलाई लामा को हटाया भी जा सकता है। परंतु आज स्थिति यह है कि निर्वासित तिब्बती उन्हें अपना निर्विवाद नेता मानते हैं और अधिकांश तिब्बती 'केंद्रीय तिब्बती प्रशासन' को अपनी एकमात्र वैध सरकार मानते हैं जिसके मुखिया परम पवित्र दलाई लामा हैं

समस्याओं के बीच पिस रहे हैं। इस प्रक्रिया में ही तिब्बती शरणार्थियों की वह अस्मिता निहित है जिसमें वे न उधर के हैं न इधर के। यही बात समस्या को गंभीर बनाती है। यह समस्या तब और भी गंभीर हो जाती है जब इसे उस कानूनी दर्जे में व्याप्त विडंबनाओं के परिप्रेक्ष्य में देखा जाए जो तिब्बतियों को तब प्रदान की गई थी जब 1959 में अपने पहले विस्थापन के समय भारत आए थे। आज निर्वासित तिब्बती 'विदेशी' और 'शरणार्थी' के दो ध्रुवों के बीच झूल रहे हैं। उन्हें 'आर सी' उपलब्ध कराया जाता है जिसका अर्थ 'रजिस्ट्रेशन कार्ड' अर्थात 'पंजीकरण कार्ड' होता है न कि 'रिफ्यूजी कार्ड' जिसका अर्थ 'शरणार्थी कार्ड' होता है। शरणार्थी कार्ड होता तो उन असंख्य सुविधाओं का रास्ता इस निर्वासित समुदाय के लिए खुल जाता जो उन्हें शरणार्थी का दर्जा प्राप्त होने से उपलब्ध होतीं। भारत न तो 1951 की शरणार्थियों के दर्जे से संबंधित संविदा में भागीदार रहा है, न ही 1967 के मसौदे में उसका कोई हाथ रहा है जिसमें शरणार्थियों के अधिकारों और सुरक्षा से संबंधित कोई स्पष्ट प्रावधान नहीं है। इन अनौपचारिक शरणार्थियों को आवास परमिट और पहचान प्रमाण-पत्र दिए गए जिससे भारत से बाहर जाने में इन्हें आसानी हुई। यद्यपि निर्वासन के पहले चरण में भारत सरकार ने तिब्बतियों को भारत में प्रवेश करने की अनुमति दे दी थी, फिर भी जो तिब्बती 1980 या उसके बाद भारत आए थे उन्हें आवश्यक पंजीकरण और अनिवार्य दस्तावेज प्राप्त करने के लिए काफी पापड़ बेलने पड़े। इस निर्वासित समुदाय को 'पंजीकरण प्रमाण-पत्र/कार्ड' प्रदान करने से एक तरह से इन्हें 'विदेशी नागरिक' का दर्जा प्राप्त हो जाता है जिससे उन्हें भारतीय नागरिकों की भांति अभिव्यक्ति, शांतिपूर्ण सभा और विरोध के मूलभूत अधिकार प्राप्त नहीं होते। इसके अतिरिक्त वे नौकरियों से तो वंचित होते ही हैं, साथ ही शैक्षिक और अन्य योग्यताओं के बावजूद अनेक प्रतिष्ठत छात्रवृत्तियों के दायरे से भी बाहर रहते हैं। होता यह है कि भारत में बसे हुए निर्वासित तिब्बती न तो नौकरी कर सकते हैं, न ही अपने नाम से आवास खरीद सकते हैं, यहां तक कि बैंक में अपने नाम से एक खाता तक नहीं खुलवा सकते। इन न्यूनतम अधिकारों के साथ तिब्बत की निर्वासित सरकार, तिब्बती शरणार्थियों को अतीत की ओर लौटने के लिए प्रोत्साहित करने के अतिरिक्त कुछ नहीं कर सकती। इससे होता यह है कि इतने बरसों से निर्वासित सरकार ने जो नाम कमाया था उस पर बट्टा लग जाता है। जो शरणार्थी किसी अन्य देश में रहते हैं उन्हें लगातार यह डर लगा रहता है कि उन्हें देश से निकाल न दिया जाये या जेल में बंद न कर दिया जाए। अवैध आप्रवासियों के रूप में उनका भविष्य अंधकारमय ही होता है। 1980 तक भारत सरकार ने तिब्बतियों की काफी सहायता की। परंतु इसके बाद राष्ट्रीय हित, तिब्बती बस्तियों की बढ़ती आबादी, जमीन की कमी और चीन से संबंध सुधारने के प्रयत्नों के चलते भारत सरकार ने तिब्बतियों को कोई भी प्रोत्साहन देना बंद कर दिया।

तिब्बती संस्कृति को सुरक्षित रखते हुए आधुनिक जीवन-पद्धति के अनुसार ढलना भारत में रह रहे तिब्बती शरणार्थियों के लिए सबसे बड़ी चुनौती है। आज भारत के तिब्बती प्रवासी अपनी तीसरी पीढ़ी में पांव रख चुके हैं। इस ऐतिहासिक निरंतरता के एक पक्ष का प्रतिनिधित्व पहली और दूसरी पीढ़ी के तिब्बती करते हैं जबकि दूसरे पक्ष पर पूरी तरह से तीसरी पीढ़ी के तिब्बती

निर्वासितों का प्रभुत्व है। यद्यपि तिब्बती शरणार्थी तिब्बती संस्कृति को सुरक्षित रखने के लिए प्रतिबद्ध हैं फिर भी नई पीढ़ी को परंपरागत जीवन पद्धति से विरक्ति हो गई है। इस बात को भी नकारा नहीं जा सकता कि जिस देश में वे रहते हैं उससे प्राप्त होने वाली आर्थिक और अन्य सुविधाओं के कारण उद्देश्य के लिए प्रतिबद्ध बने रहना अत्यंत कठिन हो जाता है। उन्हें जनतांत्रिक और आधुनिक जीवन-पद्धति की आदत हो गई है। वापस तिब्बत चले जाने का मतलब होगा सुविधाओं से भरपूर जिंदगी से वंचित हो जाना। दूसरी ओर पुरानी पीढ़ी उस दिन के लिए छटपटा रही है जब वह जमीन के उस हिस्से पर पांव रखेगी जो कभी उसका घर हुआ करता था।

तिब्बती प्रवासियों की सामाजिक, आर्थिक और शैक्षिक स्थिति

1959 में निर्वासित होने के बाद तिब्बती समुदाय भारत आया तो उनके पुनर्वास के लिए बेहतरीन प्रयत्न किये गए। इसमें भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू की स्वीकृति और दृढ़ संकल्प का प्रमुख योगदान था। निर्वासित समुदाय के पुनर्वास के लिए उन्होंने हर संभव प्रयत्न किया और जो प्राथमिकता निर्वासित तिब्बती समुदाय को दी गई उससे उनकी तुलना भारत के अन्य शरणार्थी समुदायों से की जाने लगी। इस तरह से भारत में तिब्बतियों के पुनर्वास की प्रक्रिया आरंभ हुई और कर्नाटक की राज्य सरकार (तत्कालीन मैसूर सरकार) की स्वीकृति प्राप्त होने के बाद लुगसुमसमदुप्लिंग (बयलाकुप्पे बस्ती) उनकी पहली बस्ती के रूप में सामने आई। आज भारत भर में बिखरे हुए 70 तिब्बती समूहों में से 37 बस्तियों का लगभग आधा भाग कृषि आधारित, तीसरा भाग कृषि उद्योगों और पांचवां भाग हस्तशिल्प के व्यवसाय में है। दूसरे शब्दों में भारत में रहने वाले अधिकतर तिब्बती या तो किसान हैं या खानाबदोश चरवाहे। उत्तर भारत में रहने वाले कुछ तिब्बती सत्ताधारी और सामंत हो गए हैं। लामाओं की भी काफी बड़ी संख्या है जो मठों में रहकर प्रार्थना और ध्यान में समय व्यतीत करते हैं। बच्चों की शिक्षा का ध्यान केंद्रीय तिब्बती स्कूल प्रशासन (Central Tibetan School Administration) रख रहा है जिसका एक केंद्र नई दिल्ली में है। यह एक स्वायत्त संगठन है जिसकी स्थापना 1961 में इस उद्देश्य से की गई थी कि भारत में रह रहे तिब्बती बच्चों को शिक्षित करने के लिए विद्यालय स्थापित किए जाएं और इन बच्चों में शिक्षा के प्रसार के लिए उनकी हर संभव सहायता की जाए तथा शिक्षा के साथ ही उन्हें अपनी संस्कृति और विरासत को सुरक्षित रखने और उनका प्रसार करने के लिए प्रेरित भी किया जाए। 2009 के आंकड़ों के अनुसार यह संगठन तिब्बती आबादी की बहुलता वाले क्षेत्रों में 71 विद्यालय चला रहा था जिनमें प्राथमिक कक्षाओं से लेकर बारहवीं कक्षा तक लगभग दस हजार विद्यार्थी पढ़ रहे थे जिन्हें 554 शिक्षक पढ़ा रहे थे। निर्वासन में उच्च शिक्षा के लिए सर्वप्रथम तिब्बती कॉलेज बैंगलुरु में स्थापित किया गया जिसका नाम रखा गया 'दलाई लामा उच्च शिक्षा संस्थान (The Dalai Lama Institute for Higher Education)'। इस संस्थान में तिब्बती भाषा और संस्कृति के साथ-साथ विज्ञान, कला और सूचना-प्रौद्योगिकी की शिक्षा भी दी जाती है।

निर्वासित तिब्बती समुदाय में विवाह और परिवार की संस्थाओं में असाधारण न कहें तो अनेक परिवर्तन अवश्य आए हैं। निर्वासन में भी संयुक्त परिवार की व्यवस्था तो बनी हुई है परंतु आधुनिक पश्चिमी शिक्षा के प्रभाव से संयुक्त परिवार की व्यवस्था भी अछूती नहीं रह पाई है। इससे संयुक्त परिवारों की संख्या में काफी कमी आई है। परिवार नियोजन की आधुनिक पद्धतियों का प्रचलन निर्वासित तिब्बती समुदाय में बढ़ता जा रहा है जिसके फलस्वरूप अधिकतर परिवारों में बच्चों की अधिकतम संख्या तीन तक सीमित होकर रह गई है। इसी प्रकार विवाह की संस्था में भी समय के साथ-साथ अनेक बदलाव आए हैं। परंपरागत तिब्बती समाज में विवाह को लेकर अत्यंत खुलापन दिखाई देता था और एकपत्नी, बहुपत्नी और बहुपति, तीनों प्रथाएं प्रचलित थीं। परंतु आज स्थिति यह है कि एकपत्नी प्रथा सभी प्रथाओं को पीछे छोड़कर विशेषकर निर्वासित तिब्बती समुदाय में विवाह की सामान्य प्रथा के रूप में स्थापित हो गई है। परिवारों द्वारा तय होने वाले परंपरागत विवाह का स्थान धीरे-धीरे प्रेम-विवाह लेता जा रहा हैं। इस समुदाय में विवाह अब बड़ी आयु में होने लगे हैं। ऐसा इसलिए हुआ है कि निर्वासित तिब्बती लड़के और लड़कियां शिक्षा और कैरियर पर काफी बल देने लगे हैं। विवाह संस्था को निर्वासित तिब्बती समुदाय में आम तौर पर धर्म से इतर दो परिवारों के संबंध के रूप में देखा जाता है हालांकि तिब्बती मुसलमानों को लिए विवाह धार्मिक आयोजन होता है। पति और पत्नी के चुनाव के लिए ज्योतिष शास्त्र का इस्तेमाल भी अक्सर किया जाता है।

निष्कर्ष

तिब्बती प्रवासी अपने 53वें वर्ष में चल रहे हैं। तिब्बती केंद्रीय प्रशासन अर्थात निर्वासित तिब्बती सरकार और तिब्बत में रह रहे तिब्बतियों के लिए एक तरह से यह गर्व का विषय है। भारत में मौजूद संसार का यह विशालतम प्रवासी समुदाय स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए अहिंसक संघर्ष को अपनी पहचान बना चुका है जिससे प्रवासी तिब्बती समुदाय के जीवट के नए आयाम उद्घाटित होते हैं, और उनकी, संघर्षशीलता, असाधारण धैर्य और उद्देश्य के लिए प्रतिबद्धता की अद्वितीय कथा भी हमारे सामने आती है। फिर भी इस कथा का यह केवल एक आयाम है क्योंकि उन असीम यातनाओं को नकारा नहीं जा सकता जो इस निर्वासित समुदाय ने झेली हैं।

अन्य समस्याओं के साथ-साथ निर्वासित तिब्बती सरकार के सामने जो मुख्य मुद्दे हैं

परंपरागत तिब्बती समाज में विवाह को लेकर अत्यंत खुलापन दिखाई देता था और एकपत्नी, बहुपत्नी और बहुपति, तीनों प्रथाएं प्रचलित थीं। परंतु आज स्थिति यह है कि एकपत्नी प्रथा सभी प्रथाओं को पीछे छोड़कर विशेषकर निर्वासित तिब्बती समुदाय में विवाह की सामान्य प्रथा के रूप में स्थापित हो गई है। परिवारों द्वारा तय होने वाले परंपरागत विवाह का स्थान धीरे-धीरे प्रेम-विवाह लेता जा रहा हैं

वे कानूनी दर्जे, बेरोजगारी और सांस्कृतिक अस्मिता से होते हुए समुदाय के आंतरिक मतभेदों तक जाते हैं। एक तरफ तो परंपरागत विचारधारा वाले तिब्बती हैं जो स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए मध्य मार्ग के पक्षधर हैं दूसरी ओर तिब्बती युवा कांग्रेस जैसे संगठन हैं जो उग्र विचारधारा के हैं और पूर्ण स्वतंत्रता चाहते हैं। तिब्बती युवा पीढ़ी जिस मोहभंग और कुंठा की शिकार होती जा रही है उसका प्रमाण 2008 से विद्रोह में देखने को मिला था। इससे वह समर्थन और सहायता प्रभावित हो सकती है जो केंद्रीय तिब्बती प्रशासन को पश्चिमी देशों से मिलती रही है। यह समर्थन और सहायता मिलते ही इसलिए हैं कि तिब्बतियों को उस शांतिप्रिय और आध्यात्मिक समुदाय के रूप में देखा जाता है जिसके नेता परम पवित्र दलाई लामा हैं। बेरोजगारी की समस्या दिनोंदिन बदतर होती चली जा रही है क्योंकि नौकरी की तलाश में लगातार भारत आते रहे हैं। ऊपर से भारत सरकार उन तिब्बती शरणार्थियों को प्राथमिकता देती है जो 1980 से पहले भारत आए। उसके बाद भारत में प्रवेश करने वाले तिब्बतियों के साथ सौतेला व्यवहार किया गया है। इन शरणार्थियों को तथाकथित पंजीकरण कार्ड प्राप्त करने के लिए एक जटिल और परिवर्तनशील प्रक्रिया से गुजरना पड़ा जिसके लिए उन्हें काफी मशक्कत करनी पड़ी। भारत में तिब्बती शरणार्थियों का निवास अस्थायी है जो सरकार की सद्भावना पर निर्भर करता है। अत: इनकी तकलीफ साधारण नहीं बल्कि अत्यंत पीड़ादायक है जिसे कोई बाहरी आदमी समझ नहीं सकता। परंतु तिब्बती समुदाय को सिर्फ इतना ही सहना नहीं पड़ रहा है। सांस्कृतिक मोर्चे पर जातीय अस्मिता उनके लिए एक बहुत बड़ी समस्या है। परंतु इस समस्या का मूल उनके समुदाय के भीतर ही है क्योंकि युवा वर्ग आधुनिकता से प्रभावित है जबकि परंपरागत विचारधारा वाले तिब्बती उसी तिब्बत के लिए प्रतिबद्ध हैं जिसे वे छोड़कर आए थे। यद्यपि भारत सरकार ने अन्य शरणार्थी समुदायों की अपेक्षा तिब्बती समुदाय को प्राथमिकता दी है फिर भी तिब्बती समुदाय के लिए सबसे बड़ी चुनौती यह उत्पन्न हो गई है कि भारत और चीन के संबंधों में गतिरोध आ गया है। कोई भी पक्ष अपने मत से डिगने को तैयार नहीं हैं। ऐसी स्थिति में लगता है कि इस समुदाय के लिए स्वतंत्र तिब्बत के सपने का वास्तविकता में बदलना फिलहाल संभव नहीं है। इन तथ्यों और अनुभवों को देखते हुए इस बात की महती आवश्यकता है कि भारत और चीन दोनों ही ऐसे कदम उठाएं कि तिब्बती निर्वासितों की इस त्रासद कथा का कहीं तो अंत हो। इस मामले को अंतरराष्ट्रीय स्तर पर, मानववैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखना अत्यंत आवश्यक है जिससे कि इस क्षेत्र में पटरी से उतर चुकी शांति प्रक्रिया को आरंभ से ही विश्लेषित करके इसके सभी ऐतिहासिक आयामों को ध्यान में रखकर इसे फिर से रास्ते पर लाया जा सके। ऐसा करना एशियाई महाद्वीप के देशों को साथ-साथ संसार भर के देशों के लिए अत्यंत श्रेयस्कर होगा।

साभार : द *टिबेट जर्नल*

संदर्भ

1. *अमलेन्दु मिश्र, 2003, "A Nation in Exile: Tibetan Diaspora and the Dynamics of Long & Distance Nationalism," Asian Ethnicity, खंड.4, सं. 2, पृ.189-206.*
2. *भट्ट मकसूद, (1994), Muslims of Tibet, तिब्बत बुलेटिन (जनवरी-फरवरी, 1994)*
3. *बरुआ और अन्य (2002) (सं), Ethnic Groups, Cultural Continuities and Social Change in North & East India. मित्तलपब्लिकेशन्स, नई दिल्ली*
4. *चोपड़ा, पी.एन. (1989)-Social, cultural and political history of Tibet,क्राइटीरियनपब्लिकेशन्स, नई दिल्ली ।*
5. *कोहेन, रॉबिन. (1977). Global Diasporas: An Introduction-London: UCL Press.*
6. *डान्डा, ए.के.(1999). (सं.) Ethnicity Nationalism and Integration- दिएशियाटिकसोसायटी, कलकत्ता।*
7. *जैन, रवीन्द्र के, (1994) Civilizations and Settlement Societies, The Eastern Anthropologist, 47(1):1-14*
8. *जॉन एस कॉनवे, "The Tibetan Community in Exile," Pacific Affairs, खंड़ 48, सं. 1, spring 1975, पृ. 78.*
9. *सफ्रा, विलियम. 1991. Diaspora in Modern Societies: Myths of Homeland and Return, Diaspora, 1(spring):83-99*
10. *सेरिनहौस्टन और रिचार्डराइट, "Making ind Remaking Tibetan Diasporic Identities", Social & Cultural Geography, खंड.4, सं.2, जून 2003, पृ. 217-32.*
11. *शैफर, गैब्रियल(सं.),1986. Modern Diaspora in International Politics. London: Croom Helm.*
12. *शाह, ए. (2011) Tibetan Muslims in Exile: A Sociological Profile, जामियाजर्नल, जुलाई 21, 2011, http://www.jamiajournal.com/2011/07/21/opinion-tibetan-muslims-in-exile-a-sociological-profile/*
13. *शाह. ए. आर. (2012) Tibet in Kashmir: A tale of suffering and alienation. Milligazette. 31 दिसंबर, 2010, नई दिल्ली*
14. *रॉकहिल, डब्ल्यू. डब्ल्यू. (1975). The Land of Lamas-एशियनपब्लिक्शन्स. नई दिल्ली।*
15. *जे. जे. टुंग (1980). A Portrait of Lost Tibet, Indian. Thomas and Hudson Publications*
16. *वेंकटेश्वर, जी. Venkateswar, G. (2002). Tibetans' Plight – an Indian's Empathy and Appeal, Tibetan Review खंड 37, पृ. 29.*
17. *विलियमरेमण्ड. 1983. Key Words: A Vocabulary of Culture and Society. London: Fontana*

तिब्बत और भारत के बीच भौगोलिक-सांस्कृतिक संबंध अनादिकाल से चला आ रहा है। अत: तिब्बत पर हुए चीन के अवैध कब्जे के खिलाफ भारतीय जनमानस में रोष स्वाभाविक है। लेकिन नवस्वतंत्र भारत सरकार की विदेशनीति में इसके बाद भी चीन को मित्र देश का दर्जा दिया जाता रहा और न केवल आपसी संबंधों बल्कि वैश्विक मंच पर भी मित्रता को निभाने का पूरा प्रयास किया जाता रहा। भारत का यह प्रयास एकतरफा रहा। चीन तिब्बत तक ही सीमित नहीं रहा, 1962 में उसने भारत पर भी आक्रमण कर दिया। अब ऐसा कैसे संभव था कि आम भारतीय जनता चीन और तत्कालीन एकतरफा सदाशयता वाली भारतीय विदेशनीति के खिलाफ आक्रोश में न आती! खासकर तब जबकि चीन द्वारा तिब्बत को हड़पे जाने के पहले से ही देश के प्रमुख नेताओं और विचारकों ने विभिन्न मंचों से सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित करने की कोशिश की हो।

भारत, तिब्बत और चीन : भारतीय नेताओं के विचार

भारत के प्रति चीन के असली इरादों को समझो

सरदार वल्लभभाई पटेल

सरदार पटेल उन भारतीय नेताओं में से थे जिन्होंने तिब्बत की घटनाओं के दूरगामी महत्व को समझा। यहां पंडित जवाहरलाल नेहरू को सरदार पटेल द्वारा 7 नवंबर 1950 को लिखे गए ऐतिहासिक पत्र को ज्यों का त्यों प्रस्तुत किया जा रहा है

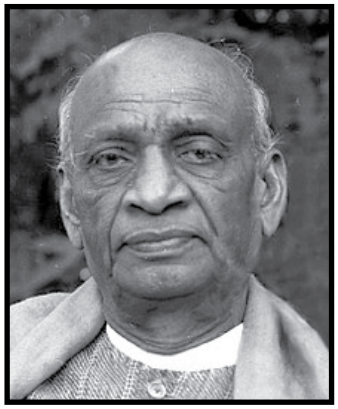

प्रिय जवाहर,

जिस दिन मैं अहमदाबाद से लौटा उसी दिन मुझे केवल पंद्रह मिनट के नोटिस पर मंत्रिमंडल की बैठक में भाग लेना पड़ा। इसी कारण से उस दिन मैं अपने सभी दस्तावेज नहीं पढ़ सका, जिसके लिए मुझे बहुत खेद है। मैं तिब्बत की समस्या पर बहुत गंभीरता से सोचता हूं। मैं चाहता हूं कि इस संबंध में मैं अपने विचारों की जानकारी आपको भी दूं।

मैंने पीकिंग स्थित भारतीय राजदूत के माध्यम से अपने देश के विदेश मंत्री और चीनी सरकार के बीच हुए पत्र व्यवहार की पूरी-पूरी जानकारी प्राप्त की है। मैंने बहुत ध्यानपूर्वक बिना किसी पक्षपात के इस पत्र-व्यवहार को पढ़ा और बहुत दुख के साथ मुझे यह कहना पड़ रहा है कि इस अध्ययन के दौरान कोई भी पक्ष मुझे ठीक प्रतीत नहीं हुआ। चीनी सरकार ने अपने शांतिपूर्ण प्रयासों के नाम पर लगातार हमें धोखा दिया है। मेरा अपना विचार यह है कि ऐसे संकट के समय में चीनी सरकार तिब्बत के मामले को शांतिपूर्ण ढंग से सुलझाने की अपनी तथाकथित इच्छा के प्रति हमारे राजदूत के मन में विश्वास की एक झूठी भावना उत्पन्न करने में सफल हुई है। इसमें कोई संदेह नहीं कि जिस समय चीनी सरकार उपरोक्त पत्र-व्यवहार में लगी हुई थी ठीक उसी समय वह तिब्बत पर अधिकार करने की योजनाएं भी बना रही थी। मेरे विचार से चीनियों की सभी कार्यवाहियां एक प्रकार से भारत के प्रति चीनी सरकार द्वारा रचा गया एक षडयंत्र है। इस पर भी दुख की बात यह है कि तिब्बती हम पर विश्वास रखते हैं। उन्होंने अपने मार्गदर्शन के लिए हमें ही चुना है ओर हम उन्हें चीनी कूटनीति के शिकंजे से मुक्त कराने में असफल रहे हैं। वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुए यह स्पष्ट है कि हम दलाई लामा को स्वंतंत्र कराने में सफल नहीं हो सकेंगे। हमारे राजदूत चीनी नीतियों और कार्यवाहियों की पुष्टि बड़ी कठिनाइयों के बाद कर सके हैं। जैसा कि विदेश मंत्रालय ने अपने एक तार में कहा है कि उन्होंने हमारी ओर से चीनी सरकार के सम्मुख जो प्रतिनिधित्व किया है, उसमें दृढ़ता का अभाव तथा अनावश्यक क्षमा-याचना की भावना निहित रही है।

कोई बुद्धिमान व्यक्ति तिब्बत में ब्रिटिश-अमरीकी षडयंत्र से चीन को तथाकथित खतरा होने पर विश्वास करे, इस बात की कल्पना भी असंभव है। और क्योंकि चीनी लोग इसमें विश्वास रखते हैं इसीलिए उन्होंने यह मान लिया कि ब्रिटिश अमरीकी कूटनीतिक व्यूह रचना में हमारा भी हाथ रहा है। उनकी इस भावना से पता चलता है कि यद्यपि हमने चीन को सदा अपना मित्र माना है, किंतु फिर भी चीनी हमें अपना मित्र नहीं समझ सके।

साम्यवादियों की इस मानसिकता कि जो उनके साथ नहीं वह उनका विरोधी है - हमें ध्यान देना चाहिए। पिछले अनेक महीनों से रूसी खेमे से बाहर भारत ही एकमात्र ऐसा देश है जिसने चीन को संयुक्त राष्ट्र संघ

की सदस्यता दिए जाने का बार-बार समर्थन किया है। हमने चीन को संतुष्ट करने के लिए हर संभव प्रयास किया है। हमने ब्रिटेन और अमरीका से पत्र-व्यवहार करते समय और संयुक्त राष्ट्र संघ में वाद-विवाद में भाग लेते समय सदा चीन की न्यायपूर्ण मांगों और उचित विचारों का समर्थन किया है। फिर भी चीन को हमारी नि:स्वार्थता पर यकीन नहीं हो सका है। वह अब भी हमें संदेह की दृष्टि से देखता है। इसी कारण से भारत चीन के बीच संबंधों के लिए संदेहों और शत्रुता का मिला-जुला वातावरण तैयार हो गया है। मेरे विचार से चीन को अपनी सद्भावना और मैत्री की इच्छा का विश्वास दिलाने के लिए इससे अधिक हम कुछ नहीं कर सकते। आजकल पीकिंग में जो भारतीय राजदूत हैं वे मैत्रीपूर्ण संबंधों के अनुकूल वातावरण उत्पन्न करने में पूर्णत: समर्थ हैं। किंतु ऐसा प्रतीत हो रहा है कि वह भी चीनियों की मनोदशा बदलने में सफल नहीं हो पा रहे। चीन से प्राप्त अंतिम तार भी चीन की अमैत्रीपूर्ण भावनाओं का सूचक है जिसके द्वारा चीन ने न केवल तिब्बत में चीनी सेना के प्रवेश पर भारत द्वारा किए गए लगातार विरोध से मुक्ति पा ली है, बल्कि साथ ही यह भी संकेत दिया है कि हमारे विचार और व्यवहार बाह्य शक्तियों के दबाव से ही निर्धारित होते हैं। चीन के इन विचारों से ऐसा नहीं लगता कि ये भारत के किसी मित्र-देश के विचार हैं। बल्कि ऐसा प्रतीत होता है कि ये विचार एक संभावित शत्रु देश के ही हैं।

ऐसी पृष्ठभूमि में हमें ध्यान देना होगा कि तिब्बत के लुप्त हो जाने और इसके साथ ही चीन द्वारा हमारी सीमाओं तक विस्तार कर लिए जाने के परिणामस्वरूप हमें किस नई स्थिति का सामना करना है। अब तक के इतिहास में हमने शायद ही कभी अपनी उत्तरी-पूर्वी सीमा के विषय में चिंता की होगी। उत्तर दिशा से आने वाले किसी भी खतरे के लिए हिमालय पर्वत एक अभेद्य दीवार के रूप में खड़ा रहा है। अब तक हमारे पड़ोस में तिब्बत के रूप में एक ऐसा मित्र देश था जिसने कभी-भी हमारे लिए कोई परेशानी पैदा नहीं की। चीनी पहले विभाजित थे और उनकी अपनी निजी समस्याएं थीं और उन्होंने कभी भी हमें हमारी सीमाओं पर परेशान नहीं किया था। 1914 में हमने तिब्बत से एक समझौता किया था जिसका चीन ने कभी भी समर्थन नहीं किया। हम यही चाहते थे कि इस द्विपक्षीय समझौते पर चीन भी अपने हस्ताक्षर कर दे। तिब्बत में चीनी सेनाएं प्रविष्ट हो जाने के साथ ही ऐसा प्रतीत होता है कि चीनी सरकार शीघ्र ही उन सभी प्रतिज्ञाओं को भंग कर देगी जो तिब्बत ने हमारे साथ की हैं। इसके साथ ही भारत और तिब्बत के बीच हुए वे सभी वाणिज्यिक और सीमा संबंधी समझौते भी खटाई में पड़ जाएंगे जिनके आधार पर हम पिछली आधी-शताब्दी से व्यवहार करते आ रहे हैं। चीन अब विभाजित नहीं है। अब वह एक संगठित और शक्तिशाली देश है। हिमालय के साथ-साथ हमारी सीमा के उत्तरी तथा उत्तर-पूर्वी भाग में ऐसी आबादी बसी हुई है जो सांस्कृतिक तथा चारित्रिक दृष्टि से तिब्बतियों और मंगोलियनों से भिन्न नहीं है। सीमांत प्रदेशों की अनिश्चित स्थिति और हमारी आबादी के एक भाग और हमारे बीच संबंध बिगाड़ने के लिए पर्याप्त हैं। हाल ही के कुछ कटु अनुभवों ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि साम्यवाद साम्राज्यवाद के विरूद्ध एक ढाल के रूप में प्रयोग नहीं हो सकता है और एक साम्यवादी एक साम्राज्यवादी के समान ही अच्छा या बुरा सिद्ध हो सकता है। साम्यवादी चीन का उद्देश्य न केवल हमारी ओर के हिमालय की ढलानों पर अधिकार करना है, बल्कि उसका लक्ष्य असम राज्य के कुछ भागों पर अधिकार करना भी है। बर्मा के संबंध में भी उसकी ठीक इसी प्रकार की महत्वाकांक्षाएं हैं। बर्मा के साथ एक कठिनाई यह है कि इसके पास कोई मैकमोहन रेखा नहीं है, जिसके आधार पर किसी समझौते जैसी कोई बात उठाई जा सके। चीनी साम्राज्यवादी साम्यवाद पश्चिमी शक्तियों के साम्राज्य वाद या विस्तारवाद से भिन्न है। साम्यवाद ने विचारधारा का आवरण भी ओढ़ रखा है जो इसे दस गुना खतरनाक बना देता है। इस विचारधारा संबंधी विस्तारवाद के आवरण में अनेक जातीय, राष्ट्रीय और ऐतिहासिक दावे निहित हैं। इसीलिए उत्तरी तथा उत्तर-पूर्वी दिशा की ओर से होने वाले खतरे ज्यों के त्यों हैं तो दूसरी ओर उत्तर तथा उत्तर-पश्चिम में हमारे लिए नए खतरे पैदा हो रहे हैं। इस प्रकार कई शताब्दियों बाद पहली बार भारतीय रक्षा विभाग को एक ही समय में दो-दो मोर्चे की रक्षा करनी पड़ी है। अभी तक हमारे प्रयास पाकिस्तान के संबंध में ही होते थे, लेकिन अब हमें उत्तर और उत्तर-पूर्व में साम्यवादी चीन पर भी ध्यान देना होगा - उस साम्यवादी चीन पर जिसके कुछ निश्चित लक्ष्य तथा महत्वाकांक्षाएं हैं और जो किसी भी हालत में भारत के प्रति मैत्रीपूर्ण रवैया अपनाने को तैयार नहीं हैं।

अब इन संभावित संकटों से ग्रस्त सीमांत प्रदेश के विषय में राजनीतिक दृष्टि से भी विचार कर लिया जाए। हमारे उत्तर और उत्तर-पूर्व में नेपाल, भूटान, सिक्किम, दार्जिलिंग तथा असम राज्य है। बाकी देश से संपर्क की दृष्टि से इन क्षेत्रों की दशा अच्छी नहीं है। यहां लगातार सुरक्षा व्यवस्था का भी अभाव है। यहां पुलिस प्रबंध भी सीमित है।

इसके अतिरिक्त इन क्षेत्रों की गौण पुलिस सीमा चौकियों पर सिपाहियों की संख्या भी पर्याप्त नहीं है। इस ओर ऐसे साधनों का सर्वथा अभाव है जिनके द्वारा हम इन क्षेत्रों से जुड़े रह सकें। इन क्षेत्रों में रहने वाले लोगों में भारत के प्रति भक्ति या निष्ठा बहुत कम देखने को मिलती है। यहां तक कि दार्जिलिंग और कलिंपोंग क्षेत्र भी मंगोलियाई समर्थक विचारों से मुक्त नहीं है। गत तीन वर्षों में हम नागाओं और असम की पर्वतीय जातियों के संबंध में कोई भी उचित कदम नहीं उठा सके हैं। किंतु उनके प्रयास भारत या भारतीयों के प्रति किसी भी तरह से मैत्रीपूर्ण नहीं थे। कुछ समय पूर्व सिक्किम में राजनीतिक उथल-पुथल मची हुई थी। इसीलिए यह स्वाभाविक ही है कि वहां धीरे-धीरे असंतोष व्याप्त होता जा रहा है। भूटान यद्यपि शांत ही है, लेकिन तिब्बतियों से इसका निकट संबंध ही इस क्षेत्र के लिए एक बड़ी मुसीबत सिद्ध होगा। नेपाल में दुर्बल अल्पतंत्रीय शासन स्थापित है जो लगभग पूरी तरह से शक्ति पर ही आधारित है। इस समय इस व्यवस्था को जनता के एक विक्षुब्ध वर्ग और साथ ही आधुनिक युग के जागृत विचारों से संघर्ष करना पड़ रहा है। ऐसी स्थिति में हमारी जनता को नए संकट के प्रति सावधान करना और उसे रक्षात्मक दृष्टि से सक्षम बनाना बहुत कठिन काम है और इस कठिनाई पर केवल विवेकपूर्ण स्थिरता विश्वास तथा स्पष्ट नीतियों द्वारा भी नियंत्रण किया जा सकता है। मुझे विश्वास है

कि चीन और उसका मार्ग-दर्शक रूप दोनों ही अपनी विचारधारा तथा अपनी महत्वकांक्षाओं की खातिर इन दुर्बल क्षेत्रों का शोषण कर सकने का कोई भी अवसर नहीं खोएंगे। मेरे विचार में ऐसी स्थिति में हमें पूर्णत: निश्चिंत नहीं हो जाना चाहिए। हमें यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होना चाहिए कि हमारे उद्देश्य क्या हैं और हमें उन्हें कैसे प्राप्त करना है। अपने उद्देश्यों के निर्धारण में किसी भी प्रकार की हिचकिचाहट तथा अनिश्चितता हमें कमजोर बना सकती है और हमारे उन खतरों को बढ़ा सकती है, जो प्रामाणिक हैं।

इन बाहरी संकटों के साथ-साथ हमें कई गंभीर आंतरिक संकटों का सामना भी करना है। मैं इंगर से पहले ही कह चुका हूं कि वे विदेश मंत्री को इन मामलों के विषय में खुफिया विभाग की रिपोर्ट की एक प्रति भेज दें। भारत के साम्यवादी दल को विदेशों के साम्यवादियों से संपर्क बनाए रखने तथा उनसे अस्त्र-शस्त्र, साहित्य आदि प्राप्त करने में कठिनाई होती रही है। उन्हें पूर्व में बर्मी तथा पाकिस्तान के सीमांतों पर भी निर्भर रहना पड़ता था। लेकिन अब उनकी पहुंच सरलता से चीनी साम्यवादियों और उनके द्वारा अन्या विदेशी साम्यवादियों तक हो सकेगी। जासूसों, गद्दारों तथा साम्यवादियों की घुसपैठ भी अब सरल हो जाएगी। केवल तेलंगाना, वारांगल के साम्यवादियों की समस्या से निबटने की अपेक्षा हमें अपने उत्तरी और उत्तर-पूर्वी क्षेत्रों में व्याप्त साम्यवादी खतरों पर भी ध्यान देना होगा क्योंकि इन क्षेत्रों के साम्यवादी आसानी से चीनी साम्यवादियों के शस्त्र-भंडार से प्राप्त अस्त्र-शस्त्र और युद्ध सामग्री पर निर्भर रह सकते हैं। इस प्रकार से सभी परिस्थितियां मिलकर कई गंभीर समस्याओं को जन्म देती हैं, जिनके संबंध में हमें जल्दी से जल्दी कोई निर्णय ले लेना होगा, ताकि जैसा कि मैं पहले भी कह चुका हूं, हम अपनी नीति के संबंध में उद्देश्य और इन उद्देश्यों को प्राप्त करने की विधियां और साधन निर्धारित कर सकें। ऐसा करके ही हम ऐसे कदम उठा सकेंगे जो न केवल हमारे लिए रक्षात्मक दृष्टि से उचित होंगे, बल्कि आंतरिक सुरक्षा के लिए भी बहुत उपयोगी सिद्ध होंगे। हमको इन दुर्बल क्षेत्रों में अनेक उन प्रशासनिक तथा राजनीतिक समस्याओं का सामना करना है जिनका मैं पहले ही उल्लेख कर चुका हूं।

मेरे लिए इन समस्याओं का विवरण देना असंभव है फिर भी मैं नीचे उन समस्याओं के विषय में बता रहा हूं जिनको मेरे विचार से जल्दी से जल्दी सुलझा लेना चाहिए और जिनके आधार पर हमें अपनी प्रशासनिक तथा सैनिक नीतियां निर्धारित तथा लागू करनी हैं :-

A. भारत की आंतरिक सुरक्षा तथा सीमांत प्रदेशों में संभावित चीनी खतरे का भारत के सैन्य-विभाग तथा खुफिया विभाग द्वारा मूल्यांकन।
B. हमारी सैनिक स्थिति का मूल्यांकन और फिर सेना का उस सीमा तक पुनर्प्रबंधन और जहां तक आवश्यक हो, विशेषत: उन भागों और क्षेत्रों की सुरक्षा के लिए कदम उठाए जाएं जो विवाद का केंद्र बन सकते हैं।
C. अपनी सैनिक शक्ति का मूल्यांकन और फिर यदि आवश्याक हो तो इन नए खतरों को देखते हुए अपनी सैनिक मोर्चाबंदी का पुनर्प्रबंध।
D. अपनी सुरक्षात्मक - आवश्यकताओं पर दीर्घकालीन विचार। मेरा अपना विचार यह है कि यदि हम अपने अस्त्र-शस्त्र और अन्य युद्ध सामग्री के विषय में विश्वस्त नहीं होंगे तो हमारी रक्षा व्यवस्था लगातार दुर्बल होती चली जाएगी और हम अपनी पश्चिमी सीमा और उत्तरी तथा उत्तरी-पूर्वी सीमा पर उत्पन्न दोहरे खतरों और समस्याओं को नहीं सुलझा पाएंगे।
E. संयुक्त राष्ट्र संघ में चीन के प्रवेश का प्रश्न। चीन ने हमारे साथ जो विश्वासघात किया और जिस प्रकार से वह तिब्बत का मामला सुलझाने का प्रयास कर रहा है, उसे देखते हुए मुझे संदेह है कि हम भविष्य में भी चीन के दावों का समर्थन करते रह पाएंगे। चीन द्वारा कोरिया-युद्ध में सक्रिय भाग लिए जाने के कारण ही वास्तव में चीन के साथ संयुक्त राष्ट्र संघ में न्याय न हो पाने की संभावना है। हमें इस प्रश्न पर भी अपना रवैया निश्चित करना है।
F. अपने उत्तरी तथा उत्तरी-पूर्वी सीमांतों को सशक्त बनाने के लिए उठाए जा सकने वाले राजनैतिक तथा प्रशासनिक प्रयास। इस क्षेत्र के अंतर्गत वह सारा सीमा क्षेत्र आता है जो नेपाल, भूटान, सिक्किम, दार्जिलिंग तथा असम के जातीय क्षेत्र से संबंधित है।
G. सीमा क्षेत्रों और सीमाओं के निकट स्थित राज्यों, जैसे उत्तर-प्रदेश, बिहार, बंगाल और असम आदि में आंतरिक सुरक्षा व्यवस्था का मूल्यांकन।
H. इन क्षेत्रों में और यहां स्थित चौकियों में संचार साधनों, सड़कों, रेल, वायुयान और वायरलेस संबंधी सुविधाओं में सुधार।
I. सीमांत चौकियों पर पुलिस तथा खुफिया प्रबंध।
J. ल्हासा में स्थापित हमारे कार्यालय तथा ग्यान्त्से और यालुंग में स्थित हमारी व्यापारिक चौकियों व तिब्बत में व्यापारिक मार्गों की सुरक्षा के लिए स्थापित हमारी सेनाओं का भविष्य।
K. मैकमोहन रेखा के संबंध में नीति-निर्धारण।

ये कुछ प्रश्न हैं, जो मेरे मस्तिष्क में उत्पन्न हुए हैं। यह संभव है कि इन मामलों पर विचार-विमर्श द्वारा चीन, रूस, अमरीका, ब्रिटेन और बर्मा से संबंधों के विषय में अधिक बड़े प्रश्न पैदा हो जाएं। इनमें से कुछ प्रश्न अत्यधिक महत्वपूर्ण हो सकते हैं, जैसे हमें चीन के साथ सौदेबाजी में बर्मा की स्थिति मजबूत करने के लिए बर्मा के निकट आना चाहिए या नहीं।

मैं इस संभावना से इनकार नहीं करता कि हम पर दबाव डालने से पूर्व चीन बर्मा पर दबाव डाल सकता है। बर्मा का सीमांत अनिश्चित है जबकि चीन के सीमा संबंधी दावे अधिक पुष्ट तथा ठोस हैं। ऐसी स्थिति में बर्मा चीन के लिए एक सरल समस्या होने के कारण चीन के ध्यान का केंद्र बन सकता है।

मैं सुझाव देता हूं कि हम जल्द ही मिलें। इन समस्याओं पर सामान्य रूप से विचार-विमर्श करें। ऐसे कदम, जो हम जल्दी से जल्दी उठाना आवश्यक समझते हैं, उनका निर्धारण करें तथा अन्य समस्याओं तथा उनके समाधान के मूल्यांकन की भी उचित व्यवस्था करें।

हस्ताक्षर
सरदार वल्लभ भाई पटेल

साभार : विजय क्रान्ति (सं), *थैंक यू इंडिया: भारत और तिब्बत*, भारत-तिब्बत समन्वय केंद्र, नई दिल्ली पृष्ठ 115-119

भारत, तिब्बत और चीन : भारतीय नेताओं के विचार

तिब्बत, चीन और हिंदुस्तान

डॉ. राम मनोहर लोहिया

2 जनवरी, 1963 को दिल्ली में दिए गए एक भाषण से

तिब्बत की बात तो कई बार मैं दोहरा चुका हूं। उसे तो खाली गिना देता हूं। एक, भाषा, दूसरे लिपि, तीसरे रहन-सहन, चौथे धर्म, पांचवें जमीन का ढलाव, छठे इतिहास, सातवें लोक इच्छा। इन सातों कसौटियों पर तिब्बत चीन का हिस्सा हरगिज नहीं है। चीन से ज्यादा हिंदुस्तान के नजदीक है। मैं यह नहीं कहना चाहता कि तिब्बत हिंदुस्तान का अंग है। लेकिन तिब्बत का और हिंदुस्तान का बिल्कुल नजदीकी संबंध है। अगर मोटी, बाजारू भाषा में मुझे कहना पड़े तो तिब्बत, तिब्बत है, स्वतंत्र है, उसका अपना ढंग है, उसके लोगों की स्वतंत्र रहने की इच्छा है। वही सबसे बड़ा सत्या है।

तिब्बत के लोग स्वतंत्र रहना चाहते हैं। उनका इलाका कोई पांच लाख वर्ग मील का है। उनकी आबादी कोई 40-50 लाख की है। वह छोटा-मोटा इलाका तो है नहीं। स्वतंत्र रहना चाहते हैं; उनको स्वतंत्र रहना चाहिए। लेकिन उसके बाद दूसरे नंबर का सवाल उठता है कि तिब्बती किसके ज्यादा नजदीक हैं। अस्सी सैकड़ा वे हिंदुस्तानियों के नजदीक हैं तो मुश्किल से पंद्रह-बीस सैकड़ा वे चीनियों के नजदीक होंगे। इससे ज्यादा उनका चीन से कोई ताल्लुक है नहीं।

जब तक इतिहास पर एक लंबी दृष्टि से सोच-विचार नहीं करेंगे, बड़ी चीज को पकड़ नहीं पाएंगे। पिछले हजार बरसों में हिंदुस्तान गिरा हुआ रहा, पिटा हुआ रहा है। गुलाम रहा है, कमजोर रहा है।.... क्या इनके सबब रहे उसे छोड़ दीजिए। हम यह मान कर चलें कि पिछले हजार बरस में हिंदुस्तानी नपुंसक रहा है और परदेशी अपनी ताकत से इस मुल्क को गुलाम बनाता रहा है। बाबर आता है परदेशी शक्ल में तो फतह करता हे मुल्क को, और तैमूर लंग का तो कहना ही क्या! और जब बाबर की औलाद बहादुरशाह की शकल में देशी बन जाती हे तो शायरी करने के सिवाय उसके पास ओर कुछ रह ही नहीं जाता। देशी और परदेशी की यह लड़ाई रही और इस हजार बरस में जो कुछ भी हिमालय के बारे में हुआ है -संधियां, लड़ाई या हिमालय के ऊपर राजकीय अधिकार, उसका उदाहरण बनाकर यह कहना कि यह हिमालय की शक्ल है, निहायत गंदी बात होगी। पिछले हजार बरस को ही क्यों देखा जाए? क्यों न पिछले दो-तीन हजार बरस को देखा जाए, चार हजार बरस को देखा जाए? आखिर पिछले हजार बरस में चंगेज खां भी तो हुए हैं। उसके अलावा चीनी राजाओं की कभी ताकत रही कि वे आगे बढे, हमारे हिमालय की तरफ भी किसी-किसी जमाने में आए। और हम हिंदुस्ताानी पिछले हजार बरस में कभी भी अपने मुल्क के बाहर की बात सोचने के लायक थे ही नहीं। मुल्क के अंदर की बातों में ही इतना फंसे रहते थे कि हमेशा हमको गुलामी से बचने के लिए तैयार रहना पड़ता था, लड़ाई करनी पड़ती थी। यह रही हिंदुस्तानी की हालत। मैं अर्ज करूंगा कि पिछले हजार बरस के इतिहास और सुलहनामों को कोई भी हिंदुस्तानी कभी उदाहरण के रूप में न ले। यह बड़ी भारी गलती होगी, अगर वह लेगा।

तिब्बत और चीन के मामलों में जितने भी सुलहनामे हैं, उनसे एक बात तो यह साबित होती है कि चाहे 10-15 बरस के लिए ही सही क्यों न हो, तिब्बत ने चीन के ऊपर राज किया। अगर सुलहनामों को ही आप आधार बनाना चाहते हों तो क्यों न चीन को तिब्बत के मातहत बना दिया जाए? दूसरे, यह बात साबित होगी कि जो कोई सुलहनामे मिलते भी हैं तिब्बत और चीन के संबंध बताने वाले, तो वे सिर्फ इतना बताते हैं कि तिब्बत का राज चीन को किसी प्रकार की भेंट दिया करता था। उसे सत्ता नहीं, एक तरह का दूर का आधिपत्य कहा जा सकता है। अंदरूनी मामलों में कोई मतलब रहता नहीं था तिब्बत के राज से, उस वक्त भी जब चीन की ताकत ज्यादा होती थी। अंदरूनी मामलों में बिल्कुल नहीं, विदेशी मामलों में भी नहीं क्योंकि तिब्बत न जाने कितनी संधियां की हैं दूसरे देशों से बिना चीन के रहते हुए, या चीन जिसमें दखल नहीं देता था।

अंग्रेजी विदेशी नीति : इसी सिलसिले में एक बात और ध्यान देने लायक है। हिंदुस्तान में अंग्रेजों ने तिब्बत के ऊपर चीन की सत्ता, इसलिए मानी कि चीन का राजा कमजोर, नपुंसक था। इसलिए उसकी सत्ता मान ली और उस सत्ता का इस्तेमाल उन्होंने खुद किया। तिब्बत के ऊपर इनका सिक्का चलता था। अंग्रेजों का तिब्बत के ऊपर चीन की सत्ता मान लेना कोई भी मतलब नहीं रखता। यह

तो 19वीं सदी की होड़ का नतीजा रहा है। उनके अपने अंतरराष्ट्रीय रिश्तों को चलाने के तरीकों का नतीजा रहा है।

और जब चीन वाले कहते हैं कि यह मैकमोहन रेखा अंग्रेजों की बनाई हुई है, साम्राज्य शाही रेखा है तो मैं खुद भी कहता हूं कि यह साम्राज्यशाही रेखा है, मैकमोहन रेखा उसकी असली रेखा नहीं, असली रेखा बनानी है तो कहीं और बनेगी।.....

कैलाश - मानसरोवर : इस मैकमोहन रेखा के मामले में कैलाश-मानसरोवर वगैरह का भी प्रश्न है। कौन कौम है जो अपने बड़े देवी-देवताओं को परदेश में बसाया करती है? छोटे-मोटे को बसा भी दे लेकिन बड़ों को, शिव और पार्वती को परदेश में बसाएं? यह कभी हुआ है? शिव-पार्वती के किस्से कब गढ़े गए? मैं तो बिल्कुल एक आधुनिक आदमी की तरह बोल रहा हूं।

हो सकता है कि कुछ आधुनिक लोग कहें कि अंतरराष्ट्रीय बहस में, कूटनीति की बहस में शिव-पार्वती को क्यों लाते हो? मैं मानकर चलता हूं कि ये किस्से कभी भी गढ़े गए, हिंदुस्तानियों ने बनाए। कब बनाए इसके ऊपर तहकीकात करो। मान लो 400-500 बरस पहले बनाए या 4-5 हजार बरस पहले। जब भी ये किस्से बनाए गए तब कैलाश और मानसरोवर भारत का हिस्सा जरूर रहा होगा। तभी तो कैलाश और मानसरोवर में इन बड़े देवी देवताओं को बसाया, नहीं तो और कहीं बसाते। खाली पिछले 2-3 बरस की टूटी-फूटी, सड़ी किसी संधि को, दस्तावेज को लेकर साबित कर देना कि तिब्बत चीन के साथ जुड़ा हुआ है, यह कोई मतलब नहीं रखता है। आखिर जमीन के ढलाव जैसे सबब जो होते हैं उनके ऊपर हिंदुस्तानी और चीनी अफसरों ने बड़ी लंबी-चौड़ी बातें की हैं। वह इलाका ले लो जहां की नदियां चीन की तरफ बहती हैं, वह तो बिल्कुल साफ कैलाश और मानसरोवर और पूर्ववाहिनी ब्रह्मपुत्र का इलाका है।

एक-चीज से आप जरूर बचकर रहना हिमालय के बारे में एक गलतफहमी चीनियों ने बड़ी अच्छी तरह फैलाई। असल में शुरूआत उन्होंने नहीं की, शुरूआत तो की है दूसरों ने। जो यह क्रिस्तान पादरी हुआ करते थे - बड़े लायक हुआ करते थे। कोई-कोई इतिहास भी पढ़ा करते थे, किताबें भी लिखते थे। उन्होंने खोज-खोज कर एक बात को निकाला कि हिमालय के इलाके में मंगोल लोग बसते हैं। हम भी इसी इतिहास को पढ़ते हैं।

हमारे बच्चों को करीब-करीब हर स्कूल, कॉलेज में क्या सिखाया जाता है? बताया जाता हे कि आर्य, मंगोल, द्रविड़ ये सब जातियां थीं जो अलग-अलग इलाकों में बसी हुई हैं - और इधर-उधर फैलती हैं और हिमालय के इलाके में जो लोग बसे हुए हैं - नेपाली या तिब्बती या मोनपा या अभेर या डाफला - इन सबको मंगोल नाम दिया जाता है और हम 45 करोड़ हिंदुस्तानी भी इस गलतफहमी के शिकार बन जाते हैं। प्रत्यक्ष अपनी आंखों से देखते हैं कि चीनी का पीला रंग, चपटी नाक और तिरछी आंखें। हिमालय के उन लोगों को छोड़ दीजिए जो भारतीय हिमालय के, कश्मीनर के या कुछ हिमालय प्रदेश और पंजाब के इलाके में पड़ते हैं, लेकिन ज्यागदातर ये तिरछी आंख और चपटी नाक और पीले रंग ने इतना सितम ढाया है हिंदुस्तानी दिमाग के ऊपर कि यह सोच बैठा है कि हिमालय तो ऐसे लोगों से बसा हुआ है जो कि चीनियों के साथ ज्यादा नजदीक है।....

वास्तव में देखा जाए तो हिमालय के इलाके में जो बसते हैं उनका चीनियों के साथ शारीरिक संबंध भी करीबी-करीब नहीं है। दिमागी तो है ही नहीं। लिखावट, भाषा का है ही नहीं, लेकिन शारीरिक संबंध तक भी नहीं है।

हिमालय के बारे में कालिदास ने 'कुमार संभव' में जो दो सबसे पहले श्लोक लिखे हैं, वे श्लोक हैं हिमालय की तपस्या के बारे में। देवालय तो नहीं लेकिन सारी दुनिया के लिए हिमालय की कितनी जबर्दस्त जगह रहती है उसके बारे में। उसका अर्थ मैं पहले बता देता हूं, फिर श्लोक दूंगा। उत्तर दिशा में एक पर्वतराज है। जिसका नाम है हिमालय, जो पूर्व और पश्चिम के समुद्र में इस तरह गोता लगाए हुए बैठा है जैसे दुनिया को नाप रहा हो, जिसके हजारों अनंत किस्म के धर्म हैं, रत्न है, फिर भी एक दोष जो उसकी तकदीर को खराब करता है, नहीं जाता वह है बर्फ, हिम, जिससे उसका नाम पड़ा हिमालय। लेकिन अगर गुणों का समूह इकट्ठा हो जाए - सब गुण ही गुण हों - तो एक दोष के होने से कुछ बिगड़ता नहीं, जैसे चंद्रमा की किरणें आती हैं तो उसके एक दोष को, धब्बे को, वे छिपा लिया करती हैं।

मैंने कई बार अध्यापकों से कहा कि आप कोशिश करो, पता लगाओ? चीनी साहित्य में, वांङ्मय में, चीनी कथाओं-किंवदंतियों में भी, कि हिमालय के लिए कुछ है क्या? कोई कविता इस ढंग की है, इस पैमाने की है या इस तरह के किस्से कहानियां हैं? अभी तक किसी ने वह मुझको ढूंढ कर नहीं दिया। शायद है भी नहीं। इस पैमाने का तो खैर है ही नहीं, लेकिन कोई छोटे पैमाने का भी नहीं है। अगर कोई हिंदुस्तानी विद्यार्थी या प्रोफेसर इस काम को करें तो बड़ा अच्छा होगा। एक तरफ तो पिछले 3-4 हजार बरस का हिमालय का हिंदुस्तानी दिमाग के लिए स्थान, और दूसरी तरफ चीनी दिमाग के लिए हिमालय का स्थान, इसका पता चलेगा। मेरा जो ख्याल है वह बिल्कुल साबित हो जाएगा कि चीन का हिमालय के साथ संबंध बहुत कमजोर है और वह चंगेज खां और कुबलाई खां जैसों तक ही सीमित है। वे श्लोक हैं :

अस्त्युत्तरस्याम् दिशि देवतात्मा
हिमालयो नाम नगाधिराजः।
पूर्वापरौ तोयनिधि वगाह्य
स्थित पृथिव्या इव मानदंडः।।
अनंत रत्न प्रभवस्य यस्य
हिमं न सौभाग्य विलोपि जातम्।
एको हि दोषो गुणसंनिपाते

हो सकता है कि कुछ आधुनिक लोग कहें कि अंतरराष्ट्रीय बहस में, कूटनीति की बहस में शिव-पार्वती को क्यों लाते हो? मैं मानकर चलता हूं कि ये किस्से कभी भी गढ़े गए, हिंदुस्तानियों ने बनाए। कब बनाए इसके ऊपर तहकीकात करो। मान लो 400-500 बरस पहले बनाए या 4-5 हजार बरस पहले। जब भी ये किस्से बनाए गए तब कैलाश और मानसरोवर भारत का हिस्सा जरूर रहा होगा

निमज्यतींदो: किरणोष्विवांक:[कुमारसंभव]
[जिसकी उत्तर दिशा में देवताओं की आत्मास्वरूप पहाड़ों के राजा हिमालय नाम के पर्वत स्थित हैं, पूर्व से लेकर पश्चिम दिशा पर्यंत समुद्र में जो प्रविष्ट है, ऐसा हिमालय इस पृथ्वी का (विभाजक) मानदंड के समान है। जिसके अंदर अनंत रत्न उत्पन्न होते हैं ऐसे हिमालय की महानता अर्थात उसके सौभाग्य (बड़प्पन) को समुद्र उसी प्रकार नष्ट कर देना चाहता है जैसे असंख्य किरणों से युक्त चंद्रमा के गुणों के समूह को उसका काला धब्बा छिपा देता है।]

अब इस हिमालय की रक्षा करने की बारी आ गई।.....अभी जो पिछले ढाई-तीन महीनों में चपत खाई है, उसके और सबब न बताकर खाली इतना कहूं कि हिंदुस्तानी दिमाग में सरकार ने खासतौर से और जनता ने भी, इस हिमालय की अवहेलना की है जो हिमालय हमारे साहित्य, हमारी किंवदंती, हमारी कथाओं, हमारे देवालयों के साथ जुड़ा हुआ है।

लद्दाख के इलाके पर जब दूसरी बार चीन ने कब्जा किया, और सिक्यांग और तिब्बत में सड़क बनाने के लिए लद्दाख का इस्तेमाल किया, तब दिल्ली सरकार के अफसरों ने क्या कहा था? वह जुमला भी अपने मुंह से निकालना बहुत ही गंदी चीज है। मैं समझा नहीं सकता कि किसी हिंदुस्तानी के मुंह से वह जुमला कैसे निकल सकता है, सो भी प्रधानमंत्री के मुंह से। वह था लद्दाख का कुछ इलाका जो चीनियों के कब्जे में चला गया है, वह पथरीला है, ऊसर है, और उस पर घास की एक दूब तक उगती नहीं।

लद्दाख के इलाके पर जब दूसरी बार चीन ने कब्जा किया, और सिक्यांग और तिब्बत में सड़क बनाने के लिए लद्दाख का इस्तेमाल किया, तब दिल्ली सरकार के अफसरों ने क्या कहा था? वह जुमला भी अपने मुंह से निकालना बहुत ही गंदी चीज है। मैं समझा नहीं सकता कि किसी हिंदुस्तानी के मुंह से वह जुमला कैसे निकल सकता है, सो भी प्रधानमंत्री के मुंह से

इसमें कई दोष हैं। एक दोष हो और कई गुण हों तो वह छिप जाता है। इसमें तो दोष ही दोष हैं। मातृभूमि का कोई भी टुकड़ा परदेशियों के हाथ में चला जाए तब उसके बारे में निरादर के शब्द कहना सपूत का नहीं, कपूत का काम है। जब यह परदेशियों के कब्जे में न रहे, अपना हो, स्वतंत्र हो, खुदमुख्तारी वहां पर हो, तब उसको सुधारने के लिए जो भी आप बोलो, लेकिन जब वह परदेशियों के कब्जे में चला जाए उस वक्त उसका निरादर करना क्या मतलब रखता है?

हिमालय की रक्षा करना ताकत का सवाल है। यह ताकत किस तरह की होगी, कब आएगी यह बात अलग है लेकिन कम से कम हम अपना दिमाग तो बनाएं कि हिमालय हमारा कौन लगता है? अगर हमारे दिमाग में वह फितूर बना रह गया - तिब्बत वाला, अंग्रेजी साम्राज्यशाही के दस्तावेजों वाला, मलोग वाला या यह कि एक उधर वाली ताकत के साथ दोस्ती रखने के लिए इन सब सच्चे मामलों के ऊपर पर्दा डाल देना हो, तब हिमालय पर कुछ भी सोच-समझ नहीं पाएंगे।

साभार : विजय क्रान्ति (सं), *थैंक यू इंडिया: भारत और तिब्बत*, भारत-तिब्बत समन्वय केंद्र, नई दिल्ली पृष्ठ 128-131

भयमुक्ति नीति की आवश्यकता

-जार्ज फर्नांडीस

तिब्बत में परमाणु कचरे के बारे में ठीक ही कहा गया है। चीन जब तिब्बत में परमाणु कचरा डाले जा रहा है तो तिब्बत के लोगों के अलावा किसी और से अधिक वह हमें ही प्रभावित करने वाला है। क्योंकि जो बड़ी-बड़ी नदियां हमारे देश में आती है ओर जो भारत में बहती हुई समुद्र में मिलती हैं उनका उद्गम स्थल तिब्बत ही तो है। इसके ऊपर से चीन ने तिब्बत क्षेत्र में जो बड़े पैमाने पर पर्यावरण विनाश किया है, पेड़ों को काट डाला है, तिब्बत को रेगिस्तान बनाया जा रहा है - इन सब कारणों से भारतीय नदियों में 'गाद' भरती है। हमारे उत्तर-पूर्व के क्षेत्र में - आसाम में हम यह अनुभव कर ही रहे हैं। और इससे आगे नीचे बंग्लादेश में नदियों में जो कुछ घटित हो रहा है, उसके कारण खानाबदोश लोग सैकड़ों की संख्या में मर रहे हैं। लेकिन किसी ने भी कभी चीन की ओर उंगली नहीं उठाई, बंग्लादेशियों ने भी नहीं। वे तो ये भी नहीं कहेंगे कि ये नदियां किसी स्थान विशेष से आ रही हैं, कि जंगलों की कटाई हो रही है कि ये नदियां अपने साथ नीचे हमारे देश में 'गाद' ला रही हैं, और हम यहां हैं।

अगर हम सुरक्षा से जुड़े अन्य मुद्दों पर बात करें, जिसमें सबसे अहम मुद्दा परमाणु हथियारों का है, तो हम जानते हैं कि चीन के पास परमाणु हथियार हैं। चीन को कोई यह नहीं कह सका है कि इन हथियारों का क्या करें। इस मुद्दे पर चीन किसी की नहीं सुनेगा और इन परमाणु हथियारों का मुंह बॉन या कॅनबरा या टोकियो या वाशिंगटन की तरफ नहीं रखा गया है। आज की तारीख में इन हथियारों का मुंह चीन के दक्षिण की तरफ है। ■

साभार : विजय क्रान्ति (सं), *थैंक यू इंडिया: भारत और तिब्बत*, भारत-तिब्बत समन्वय केंद्र, नई दिल्ली पृष्ठ 82

भारत, तिब्बत और चीन : भारतीय नेताओं के विचार

भारत की अखंडता और स्वतंत्रता खतरे में पड़ जाएगी

पंडित दीनदयाल उपाध्याय

यह पंडित दीनदयाल उपाध्याय द्वारा 27 अप्रैल 1959 को दिए गए एक वक्तव्य का अंश है

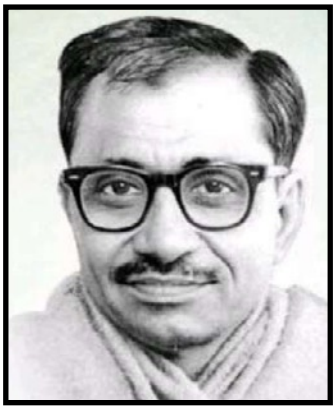

तिब्बत की स्वायत्ता हमारे लिए बहुत महत्वपूर्ण है। यदि हम उसे स्थापित नहीं कर सकते तो न केवल हमारी अखंडता और स्वतंत्रता संकट में पड़ जाएगी, बल्कि हमारे लिए गुटमुक्तता की नीति भी चालू रखना बहुत कठिन ही नहीं, असंभव हो जाएगा। जहां तक चीन की नीयत का संबंध है, वह सर्वज्ञात है। उसने 'नक्शे की लड़ाई' भी दी है। अब बताया जाता है कि चाऊ एन लाई ने यह सुझाव प्रस्तुत किया है कि चीन और अन्य एशियाई देशों के बीच अनिर्धारित सीमाओं को शांतिपूर्ण समझौतों द्वारा निश्चित कर लेना चाहिए। स्पष्ट ही, वह मैकमोहन रेखा को, जो भारत और तिब्बत के बीच की सीमा रेखा है, मान्य नहीं करता। दोनों देशों के बीच विवाद का बीज-बपन हो चुका है और किसी भी समय चीन की 'जन सरकार' अपनी 'मुक्ति सेनाओं' को भारतीय ग्रामों को पदाक्रांत करने का निर्देश दे सकती है। पंडित नेहरू ने स्वीकार भी किया है कि चीनियों ने अल्मोड़ा जिले में कुछ युद्ध महत्व के भारतीय ग्रामों पर कब्जा कर रखा है। पंडित नेहरू ने अभी तक कोई कार्रवाई नहीं की है।

चीन की लोलुप आंखें भारत के अतिरिक्त नेपाल, भूटान और सिक्किम की ओर भी हैं। एक स्वतंत्र राज्य के रूप में नेपाल अपनी प्रतिरक्षा के लिए स्वयं जिम्मेदार है। तिब्बत में चल रही कम्यूनिस्ट गतिविधियों के कारण नेपाल के शासकों के सामने उसकी भावी प्रतिरक्षा के बारे में विकट प्रश्न उपस्थित हो गया है। पाकिस्तानी समाचार-पत्र 'डान' में प्रकाशित इस समाचार को कि नेपाल के महाराजा ने कम्यूनिस्ट आक्रमण की दशा में पंडित नेहरू से सक्रिय सहायता का आश्वासन मांगा बताया जाता है, जिसके न मिलने पर नेपाल अपनी प्रतिरक्षा-शक्ति में वृद्धि की दृष्टि से S.E.A.T.O में सम्मिलित होने की वांछनीयता पर विचार करेगा, हम कितना महत्व दे सकते हैं। इस संबंध में पंडित नेहरू का क्या कहना है? मूलभूत सैद्धांतिक आधार पर सैनिक संधियों से प्रति अपने विरोध के कारण वे नेपाल को शायद स्पष्ट आश्वासन देने को तैयार नहीं हो सकते। यदि वे तैयार होते हैं, तो उन्हें अपनी प्रतिरक्षा शक्ति में, जो पाकिस्तान की आक्रामक योजनाओं का सामना करने के लिए भी पर्याप्त नहीं है वृद्धि करने के साधनों और उपायों पर विचार करना होगा।

तिब्बत की स्वायत्तता के प्रश्न पर केवल एक दृढ और निश्चित रुख ही चीन को ठीक कर सकता है। दोनों देशों के बीच मित्रता की रक्षा के लिए यह रुख आवश्यक है। मित्रता आवश्यक रूप से विश्वास ओर आदर, समानता और परस्पर लाभ पर आधारित होनी चाहिए, न कि आँखों में बेरुखी देखकर हिचकिचाहट से उत्पन्न भय और भ्रांति पर तथा विवाद सुलझाने की प्रकट याचना पर।

यदि नेपाल अमरीकी गुट में चला जाता है तो उसका भारत की परराष्ट्रनीति पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ेगा। वास्तव में इस नीति में कुछ सुधार की आवश्यकता है। पंडित नेहरू ऐसा कुछ करना पसंद नहीं कर सकते, जिससे चीन अप्रसन्न हो, परंतु चीन का रुख इस पर निर्भर नहीं रहेगा कि पंडितजी क्या करते हैं, बल्कि इस पर निर्भर होगा कि उसके लिए क्या उपयुक्त है। संयुक्त अरब गणराज्य के सूचना विभाग द्वारा प्रकाशित एक पुस्तिका में ठीक ही लिखा है कि नेहरू और नासिर ने कई वर्ष पहले बांडुंग आंदोलन का नेतृत्व किया। तब कम्यूनिस्ट समाचार-पत्र शांति के पुजारी के रूप में नेहरू की प्रशंसा करते रहते थे। अब पेकिंग सोचता है कि उनका उपयोग समाप्त हो गया है।

साभार : डॉ. महेश चन्द्र शर्मा (सं), *दीनदयाल उपाध्याय संपूर्ण वाङ्मय,* खंड 7, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 65-67

भारत, तिब्बत और चीन : भारतीय नेताओं के विचार

गूंगी-बहरी दुनिया और असहाय तिब्बत

लोकनायक जयप्रकाश नारायण

लोकनायक जयप्रकाश नारायण ने तिब्बत विषयक कई वक्तव्य दिए हैं। इस विषय पर उनके कुछ लेख भी हैं

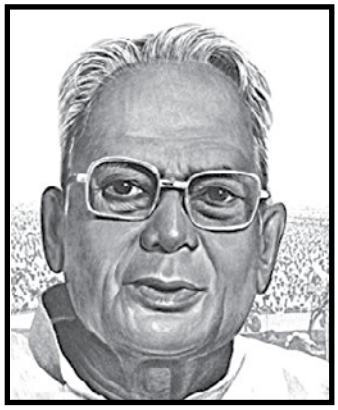

तिब्बत का सवाल मेरे लिए शुरू से ही एक सीधा सादा सवाल रहा है। यह ठीक है कि यह सवाल अकसर तरह-तरह के ऐतिहासिक और कानूनी विवादों की खींचतान में उलझा रहा है लेकिन मुझे यह सब काफी हद तक बेमानी लगता रहा है।

मैं तो इस सवाल को सीधे सादे दो हिस्सों में बंटा हुआ देखता हूं-राजनैतिक और मानवीय। खासतौर से दूसरे पहलू से दुनिया भर में सहानुभूति और रोष पैदा हुआ है। आपको याद होगा कि तिब्बती सवाल का यह वही पहलू था जिसने संयुक्त राष्ट्र संघ का ध्यान अपनी ओर खींचा था। लेकिन दूसरा यानी राजनैतिक पहलू इससे भी कहीं अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि मानवीय पहलू इससे न केवल सीधा जुड़ा हुआ है बल्कि इस पर आधारित भी है। जब तक इस समस्या का राजनैतिक हल नहीं निकाल लिया जाता तब तक मानवीय समस्या लगातार एक त्रासदी से दूसरी त्रासदी का रूप लेती रहेगी।

पहले मैं समस्या के मानवीय पहलू पर विचार व्यक्त करना चाहूंगा। इस बात पर दूसरी राय नहीं रखी जा सकती कि चीनी कम्युनिस्ट सरकार ने तिब्बत के राष्ट्रीय आंदोलन को कुचलने के लिए वहशी और अमानवीय हथकंडों का इस्तेमाल किया है और इस बात पर तुली हुई है कि तिब्बती विरोध को खत्म करने के लिए किसी भी तरीके का इस्तेमाल किया जाए-भले ही वह तरीका कितना ही क्रूर और घटिया दर्जे का क्यों न हो। यह देखने के बाद कि तिब्बत को पूरी तरह गुलाम बनाने के रास्ते में बौद्ध धर्म, लामा और मठ-मंदिर बहुत बड़ी बाधा हैं चीनी शासन एक नियोजित तरीके से बौद्ध सामाजिक व्यवस्था और बौद्ध संस्थाओं को महत्वहीन करने और नष्ट करने का काम कर रहा है। इस काम के लिए बड़े पैमाने पर सामूहिक हत्याएं और वर्णन करने की क्षमता से भी बाहर अत्याचार किए गए हैं। तिब्बत को एक चीनी उपनिवेश बनाने के लिए तिब्बत के मूल तिब्बती चरित्र को चीनी रंग में रंगा जा सके। और यह सब हो रहा है एक ऐसे परदे के पीछे जो झूठ की बुनियाद पर खड़ा है लेकिन जिसे लांघा नहीं जा सकता।

अंतरराष्ट्रीय जांच आयोग : कुछ समय पहले न्यायशास्त्रियों के अंतरराष्ट्रीय आयोग इंटरनेशनल कमीशन ऑफ जूरिस्ट्स ने एक विशिष्ट भारतीय न्यायशास्त्री श्री पुरुषोत्तम त्रीकमदास की अध्यक्षता में एक जांच आयोग बिठाया था जिसका काम था चीनी अत्याचारों की जांच करना। लेकिन इस जांच आयोग को तिब्बत में चीनियों द्वारा नहीं जाने दिया गया- ठीक वैसे ही जैसे संयुक्त राष्ट्र संघ के कमीशन को हंगरी में नहीं जाने दिया गया था।

दुर्भाग्य की बात है कि विवाद और अंतरराष्ट्रीय कूटनीतिक जोड़-तोड़ के कारण तिब्बत की समस्या के राजनैतिक पहलू को दबा दिया गया है। लेकिन फिर भी ऐसे कई तथ्य हैं जिनको कोई भी नकार नहीं सकता। इसमें किसी भी तरह के शक की गुंजाइश नहीं है कि तिब्बत हमेशा और लगातार एक स्वतंत्र देश रहा है तथा तिब्बती समाज अपने विशेष इतिहास, संस्कृति और राज्य व्यवस्था वाला एक अलग देश रहा है। इस तथ्य को इस बात से कतई भी चुनौती नहीं दी जा सकती कि मंगोलियाई और मांचू काल के गैर चीनी साम्राज्यवादी विस्तारवाद के दिनों में तिब्बत पर चीन की एक तरह की अधिराज्यता थी। इस बात से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि 1912 में तेरहवें दलाई लामा ने औपचारिक रूप से (दो वर्ष पुराने) चीनी नियंत्रण से तिब्बती आजादी की घोषणा की थी और 1950 तक तिब्बत एक आजाद देश के रूप में बना रहा। इस दौरान तिब्बती सरकार के अपने ही पासपोर्ट, आधिकारिक

रूप से इस्तेमाल किए जाते रहे। उसकी अपनी डाक-तार व्यवस्था और मुद्रा तिब्बत में चलती रही। चीन-जापान युद्ध के दौरान तिब्बत ने किसी भी तरह इस युद्ध में हिस्सा नहीं लिया और वह इसमें तटस्थ बना रहा। ये सब बातें तिब्बत के एक सार्वभौमिक और आजाद देश के चरित्र को सिद्ध करती हैं।

तिब्बत एक स्वतंत्र देश था : न्यायशास्त्रियों के अंतरराष्ट्रीय आयोग की रिपोर्ट में इस विषय पर संक्षिप्त में इस प्रकार कहा गया है-1912 से 1950 तक तिब्बत असल में एक स्वतंत्र राष्ट्र रहा। इस दौरान तिब्बत पर चीन का किसी भी तरह का नियंत्रण नहीं था। वहां न तो चीनी कानून लागू होता था और न ही कोई चीनी जज या चीनी पुलिस थी। गलियों में न तो कोई चीनी अखबार था और न ही कोई चीनी सिपाही या चीनी सरकार का प्रतिनिधि। इस बात पर भी शंका नहीं की जा सकती कि 1951 के तथाकथित चीन-तिब्बत समझौते पर दलाई लामा को दबाव में डालकर उनकी जबरदस्ती हामी की गई थी।

और अंत में अब तक की सभी घटनाओं को देखते हुए इस बात में शक की रत्ती भर भी गुंजाइश नहीं रहती कि तिब्बत पर जबरदस्ती लादे गए चीनी शासन के खिलाफ तिब्बती जनता ने हर संभव तरीके से विरोध किया तथा दलाई लामा ने जब यह देखा कि समझौता करके चीन से निबटने की हर आशा नष्ट हो चुकी है तो उन्होंने भाग कर भारत में शरण ली।

लेकिन अभी इसके काफी प्रमाण मौजूद हैं कि तिब्बती जनता का यह विरोध अभी भी जिंदा है। इन सभी तथ्यों के आधार पर जिन दो नतीजों पर पहुंचा जा सकता है उनको कोई नकार नहीं सकता। ये हैं:-

1. तिब्बत एक स्वतंत्र देश था और इस पर चीन ने जबरदस्ती कब्जा कर लिया।

2. तिब्बत को आजादी और आत्मनिर्णय का उतना ही हक है जितना दुनिया के किसी भी दूसरे देश को।

चीनी दलीलों का दोगलापन: चीन के तरफदार यह मानने को तैयार नहीं हैं कि तिब्बत को चीन ने हड़प लिया है। वे तो यह कहते हैं कि तिब्बत को 'मुक्त' कराया गया है। यहां फिर से वही सवाल उठता है जो प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू ने पूछा था-"किससे मुक्ति?" और इस सवाल का आज तक जवाब नहीं दे पाए वे लोग। वे इस बात से भी इनकार करते हैं कि तिब्बत को आत्म निर्णय का किसी भी तरह कोई हक है; और इसकी "मुक्ति" को जायज ठहराने के लिए बार-बार तिब्बत के पिछड़ेपन की बात करते हैं। इस दोगलेपन और मक्कारी के मुंहतोड़ जवाब में मैं सोवियत रूस की कोमिसारों के अध्यक्ष ब्लादिमीर लेनिन की उस घोषणा को दोहराऊंगा जो उन्होंने बोलशेविकों द्वारा सत्ता संभालने के दिन की थी। शायद चीनी तरफदारों की बात का इससे ज्यादा सटीक जवाब और कुछ नहीं हो सकता। इस घोषणा में कहा गया था:-

लेनिन की घोषणा : हमारी सरकार की राय यह है कि किसी बड़े और ताकतवर देश द्वारा किसी छोटे और कमजोर प्रदेश को अपने में मिलाया जाना जबरन कब्जा और हथियाने की कार्रवाई है, भले ही वह छोटा देश, जिस पर जबरन हमला किया गया या उसे बड़े देश में शामिल किया गया, कितना ही विकसित या पिछड़ा हुआ क्यों न हों...

"किसी भी ऐसे देश को उसकी व्यक्त इच्छा के विरूद्ध यदि किसी दूसरे बड़े देश द्वारा जबरन अपने इलाके में शामिल कर लिया जाए; भले ही यह इच्छा समाचार पत्रों के माध्यम से व्यक्त की गई हो या राष्ट्रीय असेंबली, पार्टी के फैसले में या फिर इस गुलामी के विरुद्ध किए जाने वाले मुक्ति आंदोलन में, और उस देश की जनता को बिना किसी बंधन और कब्जा करने वाली या ज्यादा ताकतवर देश की सेनाओं की गैरमौजूदगी में स्वतंत्र मताधिकार के माध्यम से यह निश्चित करने की छूट न दी गई हो कि उन्हें किस तरह की सरकार चाहिए तो उस हालत में उस देश को बड़े व ताकतवर देश द्वारा अपने देश में शामिल किया जाना उस देश का हथियाया जाना और ताकत व हिंसा के बल पर कब्जा किया जाना माना जाएगा।"

आत्मनिर्णय के अधिकार के सिलसिले में कम्युनिज्म की दो बड़ी हस्तियों द्वारा की गई घोषणाओं को यहां फिर से याद दिलाना भी काफी रोचक और महत्वपूर्ण होगा।

लेनिन और माओ : लेनिन की घोषणा है - "यदि फिनलैंड, पोलैंड, यूक्राइन अपने आपको रूस से अलग कर लेते हैं तो इसमें कोई बुरी बात नहीं हैं। यदि कोई कहता है कि यह गलत है तो वह एक उग्रवादी है...।

"कोई भी ऐसा देश आजाद नहीं रह सकता जो दूसरे देशों का दमन करता हो।" और यह दूसरी घोषणा चीन के कियांग्सी सोवियत रिपब्लिक के संविधान में से है जिसे किसी दूसरे आदमी ने नहीं बल्कि स्वयं चेयरमैन माओ-त्से-तुंग ने 1931 में तैयार किया था।

न्यायशास्त्रियों के अंतरराष्ट्रीय आयोग की रिपोर्ट में इस विषय पर संक्षिप्त में इस प्रकार कहा गया है- 1912 से 1950 तक तिब्बत असल में एक स्वतंत्र राष्ट्र रहा। इस दौरान तिब्बत पर चीन का किसी भी तरह का नियंत्रण नहीं था। वहां न तो चीनी कानून लागू होता था और न ही कोई चीनी जज या चीनी पुलिस थी; गलियों में न तो कोई चीनी अखबार था और न ही कोई चीनी सिपाही या चीनी सरकार का प्रतिनिधि। इस बात पर भी शंका नहीं की जा सकती कि 1951 के तथाकथित चीन-तिब्बत समझौते पर दलाई लामा को दबाव में डाल कर उनकी जबरदस्ती हामी ली गई थी।

चीन की सोवियत सरकार इस तथ्य को मानती है कि चीन की अल्पसंख्यक राष्ट्रीयकताओं को आत्मनिर्णय का अधि कार है, उन्हें यह भी अधिकार है कि वे चीन से अलग होकर अपने आप को अलग-अलग स्वतंत्र देशों के रूप में स्थापित कर सकें। सभी मंगोलों, तिब्बतियों, मियाओं, कोरियाइयों और चीनी क्षेत्र में रहने वाले दूसरे लोगों को आत्मनिर्णय का पूरा अधि कार रहेगा, अर्थात उन्हें यह छूट होगी कि वे चाहें तो चीनी सोवियतों के संघ में शामिल हों या फिर अलग से एक स्वतंत्र देश के रूप में रहें।"

सत्ता की कम्युनिस्ट राजनीति की दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति यह है कि चीन और रूस दोनों में ही इन आदर्श नियमों को ताक पर रख दिया गया है। सीधा सपाट सच तो यह है कि कम्युनिज्म अब एक क्रांतिकारी व्यवस्था नहीं रह गई है। और चीनी कम्युनिस्टों की हालत तो यह है कि वे मार्क्सवादी-लेनिनवादी होने के बजाए चीनी उग्र-राष्ट्रवादी और साम्राज्यवादी बनकर रह गए हैं।

एक थोथी दलील: इन तथ्यों और देशों

के आत्मनिर्णय के असंदिग्ध अधिकार के संदर्भ में यह देखकर बहुत दुख होता है कि चीनी तरफदारों के अलावा कुछ ऐसे लोग भी हैं जो चीनी अधिराज्यता की दलील देकर तिब्बत से उसका जन्मसिद्ध अधिकार छीनना चाहते हैं। और इससे भी ज्यादा दुख की बात तो यह है कि ऐसे वे देश जिन्होंने अभी हाल ही तक अपनी आजादी के लिए संघर्ष किया और आजाद हुए, अब तिब्बत के सवाल पर साम्राज्यवाद के इस गले सड़े फार्मूले की आड़ लेकर तिब्बत से वह हक छीनना चाहते हैं जिसे पाने के लिए वे खुद संघर्ष करते रहे हैं। समुद्र पार के साम्राज्यों को पहचानना तो बहुत आसान है लेकिन एक ही जमीन पर फैले उन साम्राज्यों की असलियत को पहचानना क्यों इतना कठिन हो रहा है जिनके विशाल साम्राज्य आसपास के पड़ोसी देशों के साथ मिलकर एक ही देश होने का छलावा पैदा करते हैं?

भारत-ब्रिटेन-तिब्बत : एक हिंदुस्तानी होने के नाते मैं और कुछ तो नहीं लेकिन इस बात पर बस दुख ही प्रकट कर सकता हूं कि तिब्बत पर तथाकथित चीनी अधि राज्य के विचार को बढ़ावा देने में भारत ने विशेष सहयोग दिया। कहा जाता है कि हमने तो केवल इस इलाके में ब्रिटिश नीति का ही पालन किया है। लेकिन ब्रिटिश नीति तो साम्राज्यवादी दिमाग की पैदावार थी और उसे तय करने के पीछे असली कारण था रूसी प्रभाव के विस्तार का डर न कि चीन का कोई तर्कसंगत दावा। फिर भी यहां यह याद रखना जरूरी है कि तिब्बत पर चीनी अधिराज्यता के ब्रिटिश फार्मूले के अनुसार यदि चीन तिब्बत की स्वायत्तता का आदर करने से इनकार कर देता है तो चीन को तिब्बत में किसी भी तरह के निश्चित अधि कार नहीं। ऐसे संकेत मिले हैं कि ब्रिटिश सरकार इस मामले पर नए सिरे से विचार कर रही है। शायद अमेरिका और कुछ दूसरे देशों में भी ऐसा ही हो रहा है। शायद नई दिल्ली में भी इस मुद्दे पर दोबारा विचार किए जाने की संभावना बन रही है। 2 फरवरी, 1960 को भारत सरकार ने 1914 के समझौते (शिमला समझौता) का हवाला देते हुए चीन को लिखा है:-

"यह पहला मौका नहीं था जब तिब्बत ने दूसरे देशों के साथ एक स्वतंत्र देश की हैसियत से बातचीत की और समझौते किए। 1914 से पहले भी कई अवसरों पर तिब्बत ने दूसरे देशों के साथ बातचीत की और समझौते किए। उदाहरण के लिए 1856 में तिब्बत ने नेपाल के साथ और 1904 में ग्रेट ब्रिटेन के साथ समझौते किए। इन समझौतों पर कभी भी चीन ने आपत्ति नहीं की और इन पर पूरी तरह अमल भी होता रहा। शिमला समझौते में (1914) तिब्बती और चीनी अधिकारी बराबरी के दर्जे पर मिले और इस स्थिति को चीनी सरकार ने पूरी तरह बिना किसी विरोध के स्वीकार किया। 13 अक्तूबर, 1914 को सम्मेलन में तीनों प्रतिनिधियों ने अपने-अपने परिचय पत्रों का आदान-प्रदान किया था। दलाई लामा द्वारा तिब्बती प्रतिनिधि को जारी किए गए परिचय पत्र से यह स्पष्ट होता है कि सम्मेलन में तिब्बत बराबरी के स्तर पर शामिल हुआ था और उसके प्रतिनिधि को ऐसे विषयों पर फैसला करने का अधिकार था जो तिब्बत के हित में हो। सम्मेलन में चीनी प्रतिनिधि ने तिब्बती प्रतिनिधि के परिचय पत्र को सही पाया था और उसे स्वीकार भी किया था। तत्कालीन ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधि के दस्तावेजों, जिन्हें चीनी प्रतिनिधि भी अपनी स्वीकृति दी थी, में भी यह सिद्ध किया गया था कि सम्मेलन में भाग लेने वाले तीनों प्रतिनिधिमंडलों का बराबर का दरजा था और वे लोग "विभिन्न सरकारों के आपसी संबंधों को सुनिश्चित करने के लिए उस सम्मेलन में शामिल हो रहे थे।"

इन सभी तथ्यों से एक ही बात सिद्ध होती है और वह यह है कि तिब्बत चीन का एक 'क्षेत्र' नहीं था बल्कि एक अलग देश था जिसकी अपनी एक सरकार थी जो चीन सरकार की बराबरी के स्तर पर काम करती थी और ये तथ्य कम महत्व वाले नहीं हैं। इनका मतलब देर सबेर स्वीकार करना ही होगा।

नए सिरे से विचार: खैर कुछ भी हो, इस सबसे यह मतलब नहीं निकाला जा सकता कि क्योंकि भारत और ब्रिटेन तिब्बत के सवाल से सबसे अधिक जुड़े हुए हैं इसलिए दूसरे देशों को भी इस सवाल पर वही करना चाहिए जो ये दोनों देश कर रहे हैं। इस संदर्भ में यह पूरे जोर से कहा जा सकता है कि क्योंकि इस सवाल पर इन दोनों देशों की अपनी पुरानी प्रतिबद्धताओं के कारण अपनी सीमाएं हैं इसलिए दूसरे देशों को केवल गुण-दोष के आधार पर अपना फैसला लेना चाहिए। आखिरकार तटस्थता और स्वतंत्र निर्णय लेने की नीति का भी यही तो तकाजा है। किसी को भी यह अधिकार नहीं है कि किसी दूसरे के लिए परेशानियां पैदा करे। लेकिन यदि ऐसा होता है और हम इस दिशा में बढ़ने लगते हैं तो यह निश्चित है कि हम शीतयुद्ध में उलझ कर ही रहेंगे। इसलिए मैं कहना चाहूंगा कि एकदम नए सिरे से और बिना किसी दबाव के इस सवाल पर कोई रवैया अपनाया जाए। और शायद ऐसा करने से भारत और ब्रिटेन दोनों ही अपने आपको उस दुविधा और कठिनाई से छुटकारा दिला सकेंगे जिसमें वे आज फंसे हुए हैं।

इन दिनों जबकि आने वाली शिखर वार्ता के बारे में लोग आशाएं लगाए बैठे हैं लोग इस बात के लिए उत्सुक हैं कि कोई ऐसी बात न होने पाए जिससे वातावरण खराब हो। यह उत्सुकता स्वाभाविक है लेकिन इसके साथ यह समझ लिया जाना भी जरूरी है कि यदि अंतरराष्ट्रीय गलतियों को रफा दफा करने की नीति अपनाई जाती है तो इससे उन लक्ष्यों की हानि होगी जिनके लिए बड़े नेता मिल रहे हैं।

निरस्त्रीकरण के बारे में भी आजकल खूब बात हो रही है। इसका स्वागत किया जाना चाहिए। लेकिन इसके साथ ही यह भी समझना जरूरी है कि वास्तविक निरस्त्रीकरण का परिणाम यह होना चाहिए कि उपनिवेशवाद किसी भी रूप में जीवित न रह पाए। निरस्त्रीकरण और देशों को अपने बारे में आपने आप फैसला करने की नीतियां साथ-साथ चलनी चाहिए। अंतरराष्ट्रीय शांति और अंतरराष्ट्रीय न्याय एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। अब वह दुनिया नहीं रही जिसमें कभी जंगल का कानून चलता था। भले धीरे-धीरे ही सही लेकिन निश्चित रूप से एक ऐसी विश्व व्यवस्था बन रही है जो डंडे से नहीं बल्कि सचाई पर आधारित होगी। हालांकि यह सपना अभी बहुत दूर है लेकिन उसका स्वरूप अंधेरे को चीरकर धीर धीरे उजागर होने लगा है।

साभार : विजय क्रान्ति (सं), *थैंक यू इंडिया: भारत और तिब्बत*, भारत-तिब्बत समन्वय केंद्र, नई दिल्ली पृष्ठ 120-124

भारत, तिब्बत और चीन : भारतीय नेताओं के विचार

भारत को चीन के बजाए तिब्बत सरकार को मान्यता देनी चाहिए थी

डॉ. भीमराव रामजी आंबेडकर

लोकसभा में एक बहस के दौरान 1954 में दिया गया वक्तव्य

"हमारे प्रधानमंत्री पंचशील पर भरोसा कर रहे हैं जिसे कॉमरेड माओ ने अपनाया है और पंचशील के अनुच्छेदों में एक तिब्बत पर आक्रमण न करने का समझौता है। मैं वाकई चकित हूं कि हमारे प्रधानमंत्री इस 'पंचशील' को गंभीरतापूर्वक ले रहे हैं। सदन के माननीय सदस्यों, आपको जरूर मालूम होगा कि पंचशील बुद्ध धर्म के महत्व पूर्ण हिस्सों में है। अगर श्री माओ को पंचशील में तनिक भी विश्वास होता तो वे अपने देश के बौद्धों के साथ अलग तरह से व्यवहार करते। राजनीति में पंचशील को कोई स्थान प्राप्त नहीं है। पंचशील में एक तथ्य है कि नैतिकता हमेशा बदलती रहती है। नैतिकता नाम की कोई चीज ही नहीं है। आप आज की नैतिकता के मुताबिक अपना वादा निभा सकते हैं और उसी पर चलते हुए आप वादाखिलाफी भी कर सकते हैं क्योंकि कल की नैतिकता के पैमाने अलग होंगे... मेरे विचार से हमारे प्रधानमंत्री को मेरी बातों की सच्चाई का अहसास तब होगा जब स्थिति और बिगड़ जाएगी। मुझे वाकई नहीं मालूम कि क्या होने वाला है। प्रधानमंत्री ने चीन को तिब्बत की राजधानी ल्हासा पर नियंत्रण करने की छूट देकर एक तरह से चीनियों को अपनी सेना भारतीय सीमाओं पर लाने में मदद की है। कोई भी विजेता जो कश्मीर को अधिग्रहित करेगा वह सीधे पठानकोट पहुंच सकता है, और मुझे पक्का यकीन है कि वह प्रधानमंत्री निवास तक भी पहुंच सकता है।

साभार : विजय क्रान्ति (सं), *थैंक यू इंडिया: भारत और तिब्बत*, भारत-तिब्बत समन्वय केंद्र, नई दिल्ली पृष्ठ 134

तिब्बत : संसार का अंतिम उपनिवेश

-निर्मल वर्मा

तिब्बत हमारी शती का अंतिम उपनिवेश है जिसकी सांस्कृतिक अस्मिता कभी भी नष्ट हो सकती है। 'बीसवीं सदी की उल्लेखनीय घटनाओं की रिपोर्ट'- यह किसी पत्रकार की नाटकीय अतिशयोक्ति नहीं है, बल्कि यह हमारे पड़ोसी देश की त्रासद नियति का भयावह खुलासा है जिसकी संस्कृति, राजनीतिक अस्मिता और पर्यावरण को पिछले पैंतीस वर्षों से योजनावत तरीकों से ध्वस्त किया जा रहा है। हमारे समय में नात्सियों द्वारा यहूदियों के नरसंहार-जेनोसाइड- के बाद शायद यह दूसरी घटना है जब एक विशिष्ट जन-समूह की समूची जातीय नस्ल को नष्ट करने का प्रयास किया जा रहा है- अंतर सिर्फ इतना है कि जो कुकृत्य नात्सी नेता लुके-छिपे कर रहे थे, आज यह दिन-दहाड़े, खुलेआम हो रहा है, ओर जो राष्ट्र इसके लिए उत्तरदायी है, उस पर उंगली उठाने वाला कोई नही। क्या यह संभव है कि हमारे एक निकटवर्ती देश, जिसके साथ हमारे हजारों वर्ष पुराने सांस्कृतिक संबंध रहे हैं, जिसके लाखों निवासी अपनी भूमि से उन्मूलित होकर हमारे देश में शरणार्थियों की तरह रह रहे हों, और हम मूक दर्शक की तरह मुंह में ताला लगाए उसकी सांस्कृतिक संपदा को लुप्त होते देखते रहें और कुछ न कहें? ■

साभार : विजय क्रान्ति (सं), *थैंक यू इंडिया: भारत और तिब्बत*, भारत-तिब्बत समन्वय केंद्र, नई दिल्ली पृष्ठ 22

भारत, तिब्बत और चीन : भारतीय नेताओं के विचार

चीन पर भरोसा मत कीजिए

आचार्य जे बी कृपलानी

तिब्बत पर चीन के कब्जे के बाद लोकसभा में हुई बहस के दौरान 8 मई 1959 के दिन दिया गया भाषण

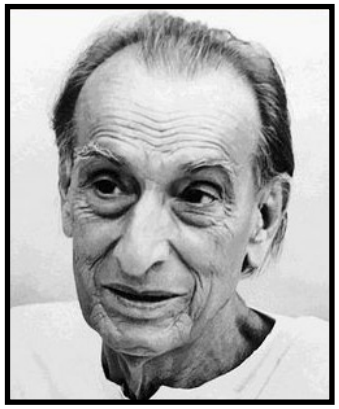

यह विषय महत्वपूर्ण है, समय बहुत कम दिया गया है इसलिए मैं हर संभव तरीके से अपनी बात संक्षिप्त रखने की कोशिश करूंगा। देशों के लिए दूसरे की आंतरिक और विदेश नीति की आलोचना करना कोई असामान्यबात नहीं है। कोई भी इस आलोचना को देश के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं मानता। अगर ऐसा होता तो खुद चीन द्वारा यूगोस्लाविया की कड़ी आलोचना को उस देश के आंतरिक मामले में हस्तक्षेप माना जाता। लेकिन साम्यावादी दुनिया में न्यान के दो पैमाने हैं- एक अपने लिए और दूसरा उनके लिए जिन्हें वे अपना विरोधी मानते हैं।

एक राष्ट्र का बलात्कार : हाल ही में, चीन किसी भी तरह की आलोचना के प्रति बेहद संवदेनशील हो गया है। जब कोई व्यक्ति अति संवदेनशील हो जाता है तो, मुझे लगता है, उसका इरादा नेक नहीं होता। यहां तक कि कांग्रेस अध्यक्ष के मामूली बयानों को काट दिया गया। क्यों? क्योंकि उन्होंने कहा कि तिब्बत एक देश है। मैं अपने खिलाफ गुस्से को समझ सकता हूं क्योंकि मैंने कभी भी चीनियों के इरादों, उनके पेशे और वादों पर भरोसा नहीं किया। इस सदन में मैं अकेला ऐसा शख्स हूं जिसने एक राष्ट्र के बलात्कार के विरूद्ध आवाज उठाई है। 1950 में ही मैंने इस सदन में कह दिया था कि चीन की साम्यवादी सरकार की उस देश पर हुकूमत है। लिहाजा भारत सरकार ने यह उचित समझा कि उसे संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता से वंचित नहीं किया जाना चाहिए और हमने चीन के मामले की वकालत की। लेकिन अगर हमने थोड़ा इंतजार कर लिया होता तो हम और भी सतर्क हो जाते। शीघ्र ही इस राष्ट्र ने, जो हाल ही में आजाद हुआ है, अपने एक ऐसे पड़ोसी राष्ट् की आजादी को उलझा दिया जिसकी आजादी को लेकर हमें चिंता है। हमारी सरकार का यह रवैया केवल इस धारणा पर समझ में आता है कि तिब्बत दूर-दराज देश है और उससे हमारा कोई सरोकार नहीं है। लेकिन मान लीजिए कि जो तिब्बत में हुआ वही नेपाल में हो तो मुझे पक्का यकीन है कि हम चीन के खिलाफ जंग छेड़ देंगे, भले ही हम इसके लिए तैयार हों या न हों। तब संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता के लिए चीन की हमारी वकालत का क्या होगा?

फिर, महोदय 1954 में एक बार फिर मैंने इस सदन में कहा था कि "हाल ही में हमने चीन के साथ एक समझौता किया है। मेरा मानना है कि चीन ने साम्यवादी बनने के बाद तिब्बत के खिलाफ आक्रमण किया। कहा जाता है कि चीन को हुकूमत का पुराना अधिकार प्राप्त है। यह अधिकार पुराना, अर्थहीन और प्रचलन से बाहर है। सच तो यह है कि इसे कभी प्रयोग नहीं किया गया। समय के साथ वह खत्म हो गया था। अगर यह खत्म नहीं भी हुआ था तो भी आज लोकतंत्र के, जिसकी हमारे साम्यवादी दोस्त कसमें खाते हैं, जिसकी चीनी कसमें खाते हैं, के युग में उस पुरानी हुकूमत की बात करना और ऐसे देश में एक नए रूप में उसका इस्तेमाल करना उचित नहीं है जिसका चीन से कोई सरोकार नहीं था और न है। तिब्बत सांस्कृतिक रूप से चीन के मुकाबले भारत से ज्यादा मिलता जुलता है। मैं इसे मानता हूं जिस तरह कोई पश्चिमी राष्ट्र करता है। अगर कोई देश दूसरे राष्ट्र पर आक्रमण करता है तो हमें चिंता नहीं होती। लेकिन इस मामले में हमें चिंता है क्योंकि चीन ने एक अमनपसंद देश को तबाह कर दिया है। अंतरराष्ट्रीय राजनीति में जब कोई शक्तिशाली राष्ट्र किसी अमनपसंद देश को तबाह करता है तो उसे उसके पड़ोसियों के विरूद्ध आक्रमण माना जाता है।

इंग्लैंड ने जर्मनी के विरूद्ध इसलिए जंग नहीं छेड़ा कि जर्मनी ने इंग्लैंड पर धावा बोला था बल्कि इसलिए कि उसने पोलैंड और बेल्जियम पर आक्रमण किया था। महोदय, फिर मैंने इस सदन में कहा था कि, "यह भी अच्छी तरह मालूम है कि चीन के नए नक्शे, में नेपाल, सिक्किम आदि जैसे सीमावर्ती इलाके भी शामिल हैं। इससे हमें चीन के आक्रमण के इरादे के बारे में पता चलता है। देखिए कि चीनियों ने खुद कोरियाई युद्ध में क्या किया। मैं यह नहीं कहता कि चूंकि चीन ने तिब्बत पर कब्जा कर लिया सो हमें उसके विरूद्ध जंग करना चाहिए। लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि हमें चीन के तिब्बत पर दावे को स्वीकृति दे देनी चाहिए। हमें मालूम होना चाहिए कि यह एक विदेश राष्ट्र के खिलाफ आक्रमण है।

फिर महोदय, मैंने उसी वर्ष कहा था कि, "हमारी सीमाओं पर एक छोटे अमनपसंद देश को उसकी स्वतंत्रता से वंचित कर दिया गया। जब हमने हल्का" विरोध किया तो हमसे कहा गया कि हम

पाश्चात्यर शक्तियों के दलाल हैं। अगर मुझे सही-सही याद है तो हमें "साम्राज्यवाद के भागते कुत्ते" करार दिया गया था।"

फिर महोदय, 1958 में मैंने पंचशील पर बात करते हुए कहा था कि, "इस महान सिद्धांत का जन्म ही पाप में हुआ क्योंकि इसकी घोषणा एक प्राचीन राष्ट्र पर हमारी स्वीकृति की मुहर लगाने के लिए की गई, वह देश हमसे आध्यात्मिक और सांस्कृतिक रूप से जुड़ा हुआ था।"

महोदय, उस समय कुछ माननीय सदस्यों ने हस्तक्षेप करके पूछा था: "क्या वह राष्ट्र पीड़ित है" मेरा जवाब था, सवाल यह नहीं है कि "वह पीड़ित है या नहीं। वह ऐसा राष्ट्र था जो अपनी जिंदगी खुद जीना चाहता था और उसने अपनी जिंदगी खुद जीने की आज्ञा मांगी थी। अच्छी सरकार स्वराज का विकल्प नहीं है।"

चीन और संयुक्त राष्ट्र : महोदय, राज्यसभा में हमारे कुछ दोस्तों ने कहा है कि हमें चीन की संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता के मामले को समर्थन जारी रखनी चाहिए। मैं उनके विचार का सम्मान करता हूं। उनका मानना है कि संयुक्त राष्ट्र के सदस्य के रूप में चीन कुछ सार्वजनिक राय को मानने के लिए बाध्य होगा। यह सच नहीं है। दक्षिण अफ्रीका, फ्रांस, रूस और कई दूसरे आक्रामक राष्ट्र हैं। संयुक्त राष्ट्र के सदस्य होने की वजह से ही उन्होंने अपनी आक्रामकता नहीं छोड़ी है।

हमें एक बार फिर बताया गया कि भले ही चीन ने पंचशील (सिद्धांत) तोड़ दिया हो लेकिन हमें उस पर बरकरार रहना चाहिए। महोदय, मैं नहीं मानता कि

मैं नहीं मानता कि पंचशील नैतिक जिम्मेदारी है। यहां तक कि अंतरराष्ट्रीय समुदाय में नैतिक जरूरियात पर भी एकतरफा बरकरार नहीं कहा जा सकता। पंचशील एक दूसरे की सत्यनिष्ठा और संप्रभुता का परस्पर सम्मान करने को कहता है। जब तक साझीदारी नही होगी तब तक इन चीजों के लिए सम्मान कैसे होगा

पंचशील नैतिक जिम्मेदारी है। यहां तक कि अंतरराष्ट्रीय समुदाय में नैतिक जरूरियात पर भी एकतरफा बरकरार नहीं कहा जा सकता। पंचशील एक दूसरे की सत्यनिष्ठा और संप्रभुता का परस्पर सम्मान करने को कहता है। जब तक साझीदारी नही होगी तब तक इन चीजों के लिए सम्मान कैसे होगा?

पंचशील शांतिपूर्ण सहअस्तित्व का भी द्योतक है। जब तक यह विचार एक राष्ट्र की बजाय सभी राष्ट्रों पर लागू नहीं होगा तब तक शांतिपूर्ण सहअस्तित्व कैसे हो सकता है? आप अकेले शांतिपूर्ण सहअस्तित्व नहीं रख सकते। यह असंभव है। सो, पंचशील साझीदारी का संकेत करता है और अगर दूसरे इसका उल्लंघन करते हैं तो आप इस पर अमल नहीं कर सकते। और हमने देखा है कि पंचशील की कसम खाने वाले राष्ट्र एक-एक करके इसका उल्लंघन कर रहे हैं।

चीन भारत का मित्र नहीं : मौजूदा मामले में चीन कोई बेहतर नहीं है। उसने न केवल उसका उल्लंघन किया है बल्कि हम पर उसके उल्लंघन का आरोप लगाया है। महोदय, मेरा मानना है कि हम चीन के साथ अपनी दोस्ती पर भले ही जोर देते रहें और चीनी-हिंदी भाई-भाई कहते रहें, मैं आपसे कहता हूं कि यह राष्ट्र कभी हमारे प्रति दोस्ताना रवैया नहीं रखेगा। क्यों? क्योंकि कोई मित्र देश भरे बाजार में दूसरे देश पर चिल्लाता नहीं है। अगर उन्हें यह कहना है कि कलिमपोंग-वे इसे क्या कहते हैं- कमान केंद्र था, तो वे इसे राजनयिक माध्यमों से कह सकते थे। और उन्होंने ऐसा छह महीने पहले किया था; इस मामले की जांच की गई तो आरोप निराधार साबित हुए और उन्हें ये रिपोर्ट भेजी गई। उनके पास अब कहने के लिए कुछ नहीं था। इस अवसर पर यह राजनयिक तरीका क्यों नहीं अपनाया गया? भरे बाजार में मेरे मित्र राष्ट्र पर यह गुर्राहट क्यों? मैं बिल्कुल नहीं समझ सकता ऐसी मानसिकता वाले राष्ट्र के साथ दोस्ती कैसे संभव है।

फिर भी इससे बचने के हमारे प्रयासों का यह नतीजा निकलेगा। वे हमारी नेकनीयती के लिए हमें श्रेय नहीं देंगे। वे हमें कायरता का श्रेय देंगे। दबंग को कभी नहीं लगेगा कि आप अपनी अच्छाई की वजह से काम कर रहे हैं। उसे तो सिर्फ यही लगेगा कि आप डर रहे हैं।

साभार : विजय क्रान्ति (सं), *थैंक यू इंडिया: भारत और तिब्बत*, भारत-तिब्बत समन्वय केंद्र, नई दिल्ली पृष्ठ 139-141

चीनी कब्जे में तिब्बत का केवल विनाश हुआ

-दसवें पंचेन लामा

भूख का तांडव : पंचेन लामा ने लिखा है "तिब्बत के कई भागों में लोग भूख से मर रहे हैं। कुछ स्थानों पर तो पूरे के पूरे परिवार ही खत्म हो गए हैं और मृत्यु दर बहुत तेज हो गई है। यह सब कुछ बहुत ही असामान्य, भयानक और गंभीर है। अतीत में तिब्बत अंधकारपूर्ण और क्रूर सामन्तशाही व्यवस्था में रह चुका हे, लेकिन तब भी भोजन की इतनी कमी नहीं रही, खासकर बौद्ध धर्म के फैलने के बाद से तो बिल्कुल ही नहीं।" उन्होंने आगे लिखा है "तिब्बत में आम जनता इतनी अधिक गरीबी की हालत में रह रही है कि बूढ़े-जवान सभी भूखे मर रहे हैं या फिर इतने कमजोर हो चुके हैं कि उनमें बीमारियों से लड़ने की ताकत नहीं बची है। और इसलिए वे मर रहे हैं।" ■

साभार : विजय क्रान्ति (सं), *थैंक यू इंडिया: भारत और तिब्बत*, भारत-तिब्बत समन्वय केंद्र, नई दिल्ली पृष्ठ 112

भारत, तिब्बत और चीन : भारतीय नेताओं के विचार

तिब्बत पर चीनी कब्जा - विश्व की असभ्यता का प्रतीक है

आचार्य रजनीश

ये बातें आचार्य रजनीश (ओशो) ने अपने एक प्रवचन में कही थीं, जो उनके 'ॐ मणि पद्मे हुम्' शीर्षक पुस्तक में संकलित है

दुर्भाग्यवश, तिब्बत अंधकार के गर्त में पड़ गया है। इसके मठ बंद कर दिए गए हैं, इसके सत्य के खोजियों साधकों को श्रम-शिविरों में काम करने के लिए विवश कर दिया गया है। संसार में एकमात्र देश तिब्बत, जो अपनी समस्त प्रतिभा और मेधा को एकाग्र कर अपनी निजी आंतरिकता और उसके खजानों की तलाश में काम करता रहा है, उसे साम्यवादी हमले ने रोक दिया है।

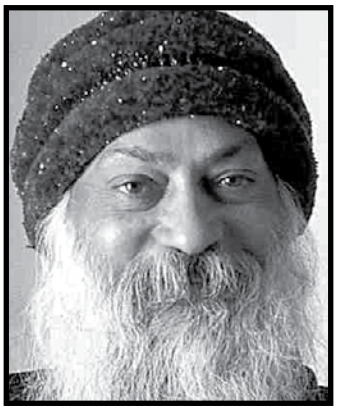

यह इतनी कुरूप दुनिया है कि किसी ने इसका प्रतिवाद तक नहीं किया बल्कि उलटे, क्योंकि चीन बड़ा और शक्तिशाली है, ऐसे देशों तक ने जो इतने अधिक शक्तिशाली हैं जितना चीन कभी नहीं हो सकता - जैसे कि अमरीका उन्होंने भी स्वीकार कर लिया है कि तिब्बत चीन का है। यह बिल्कुल बकवास है। मात्र इसलिए कि चीन एक शक्तिशाली राष्ट्र है और सभी देश चीन को अपनी ओर रखना चाहते हैं, न तो सोवियत संघ ने चीन के दावे को अस्वीकार किया, न ही अमरीका ने। चीन और सोवियत संघ को छोड़ो, भारत तक ने प्रतिवाद नहीं किया है।

इतना सुंदर प्रयोग था यह। तिब्बत के पास लड़ने के लिए कोई हथियार नहीं थे, और लड़ने के लिए कोई सेना नहीं थी। और उन्होंने इसके बाबत कभी सोचा ही नहीं था। उनका सारा प्रयास अंतमुर्खी तीर्थयात्रा का था।

मनुष्य की अंतरात्मा के उद्घाटन का ऐसा संकेंद्रित प्रयास कहीं भी नहीं हुआ है। तिब्बत में हर परिवार अपने बड़े पुत्र को किसी मठ को दे दिया करता था, जहां उसे ध्यान करना था और जागरण के समीपतर आते जाना था। यह हर परिवार के लिए आह्लादकारी था कि कम से कम उनमें से एक संपूर्ण हृदय से, चौबीस घंटे अंतरात्मा पर काम कर रहा था। वे भी काम करते थे, पर वे सारा समय नहीं लगा सकते थे। उन्हें भोजन, कपड़ा ओर मकान की भी व्यवस्था करनी होती थी - और तिब्बत में यह एक कठिन बात है। जलवायु बहुत सहायक नहीं है; तिब्बत में रहना एक विशाल संघर्ष है लेकिन फिर भी हर परिवार अपने पहले बच्चे को मठ में दे दिया करता था।

वहां सैकड़ों मठ थे। और इन मठों की तुलना किसी भी कैथलिक मठ से नहीं की जानी चाहिए। इन मठों की पूरी दुनिया में कोई तुलना नहीं है। इन मठों का सरोकार सिर्फ एक बात से था : तुम्हें स्वयं के प्रति जगाना। शताब्दियों में हजारों विधियां निर्मित की जाती रही हैं कि तुम्हारा कमल खिल सके और तुम अपने परम खजाने - उस मणि को पा सको। ये केवल प्रतीकात्मक शब्द है।

तिब्बत का विनाश इतिहास में पहचाना जाएगा, खासतौर से जब आदमी थोड़ा और जागरूक तथा मानवता कुछ और मानवीय होगी। यह बीसवीं सदी की सबसे बड़ी विपदा है कि तिब्बत भौतिकवादियों के हाथों में पड़ गया है, जो यह नहीं मानते कि तुम्हारे अंतर में कुछ है। वे मानते हैं कि तुम केवल पदार्थ हो और तुम्हारी चेतना पदार्थ का उपजात मात्र है। और यह सब बगैर आंतरिक का कोई अनुभव किए - मात्र तार्किक, बौद्धिक चिंतन।

संसार में एक भी कम्यूनिस्ट ने ध्यान नहीं किया है, लेकिन यह आश्चर्यजनक है कि वे सभी आंतरिक को इनकार करते हैं। कोई नहीं सोचता कि 'वाह्य' कैसे हो सकता है यदि कोई 'आंतरिक' न हो? उनका अस्तित्व एक साथ है। वे अविच्छेद्य हैं। और 'वाह्य' केवल 'आंतरिक' की सुरक्षा के लिए है, क्योंकि 'आंतरिक' अत्यंत सुकुमार और सुकोमल है। परंतु 'वाह्य' को स्वीकार किया गया है और 'आंतरिक' को इनकार। और यहां तक कि यदि कभी इसे स्वीकार भी किया गया, तो संसार इतने गंदे राजनीतिकों से प्रभावित है कि वे आंतरिक अनुभवों का भी कुरूप लक्ष्यों के लिए उपयोग

करते हैं। मुझे पता चला कि अमरीका अब अपने सैनिकों को ध्यान का प्रशिक्षण दे रहा है ताकि वे बिना घबड़ाए, बिना पागल हुए, बिना कोई भय महसूस किए लड़ सकें, ताकि अपने खंदकों में चुपचाप, शांत और स्थिर और प्रकृतिस्थ पड़े रह सकें। किसी ध्यानी ने कभी सोचा भी नहीं होगा कि ध्यान का उपयोग युद्ध लड़ने के लिए भी किया जा सकता है। लेकिन राजनीतिकों के हाथों में सब कुछ कुरूप हो जाता है - ध्यान तक।

अब अमरीका सैनिक छावनियां ध्यान की शिक्षा दे रही हैं ताकि उनके सैनिक लोगों की हत्या करते समय शांत और स्थिर रह सकें। लेकिन मैं अमरीका को चेतावनी देना चाहता हूं कि तुम आग के साथ खेल रहे हो। तुम ठीक-ठीक नहीं समझ रहे हो कि ध्यान क्या करेगा। तुम्हारे सैनिक इतने शांत और स्थिर हो जाएंगे कि वे अपने शस्त्रों को फेंक देंगे और हत्या करने से सीधे इनकार कर देंगे।

एक ध्यानी हत्या नहीं कर सकता। एक ध्यानी विध्वंसक नहीं हो सकता। तो एक दिन वे आश्चर्यचकित होने वाले हैं कि उनके सैनिक अब लड़ाई में उत्सुक नहीं रहे। युद्ध, हिंसा, लाखों लोगों का संहार - यह सब संभव नहीं है यदि कोई थोड़ा भी ध्यान को जानता हो। तब न वह केवल स्वयं को जानता है, वह दूसरे को भी जानता है जिसकी वह हत्या कर रहा है। वह उसका ही भाई है, वे सभी एक ही निस्सीम अस्तित्व के अंग हैं।

सोवियत संघ में भी वे ध्यान में उत्सुक हैं, लेकिन उद्देश्य वही है - तुम्हारा आत्मसाक्षात्कार नहीं, बल्कि तुम्हें मजबूत बनाना ताकि तुम हत्या कर सको, बम फेंक सको और परमाणविक हथियारों और प्रक्षेपास्त्रों का उपयोग कर सको, समूचे राष्ट्रों को ध्वस्त करने के लिए।

अगर मानवता थोड़ी सचेत होती तो तिब्बत को आजाद कर दिया जाना चाहिए, क्योंकि यह एकमात्र देश है जिसने लगभग दो हजार वर्ष किसी अन्य कार्य में नहीं, बल्कि केवल ध्यान की गहराई में जाने को ही समर्पित किए हैं। और यह संपूर्ण विश्व को कुछ ऐसा सिखा सकता है जिसकी महती आवश्यकता है।

लेकिन साम्यवादी चीन उस सब कुछ को नष्ट कर देने का प्रयास कर रहा है जिसे दो हजार वर्षों में निर्मित किया गया है। उनकी सारी युक्तियां, ध्यान की उनकी सारी विधियां - उनके समस्त आध्यात्मिक वातावरण को प्रदूषित किया जा रहा है, विषाक्त किया जा रहा हे। लेकिन वे सीधे -सादे लोग हैं; वे अपना बचाव नहीं कर सकते। उनके पास अपनी सुरक्षा के कोई साधन नहीं हैं - टैंक नहीं, बम नहीं, विमान नहीं, सेना नहीं। एक निर्दोष जाति जिसने दो हजार वर्ष तक बिना किसी युद्ध के जीया है। वह किसी को बाधा नहीं पहुंचाती। वह सबों से इतना दूर है कि वहां पहुंचना भी कठिन काम है - वे संसार की छत पर रह रहे हैं। सर्वोच्च पहाड़ शाश्वत बर्फ उनका घर है। उन्हें अकेला छोड़ दो। चीन का कुछ जाएगा नहीं, लेकिन पूरा संसार उनके अनुभव से लाभान्वित होगा। और संसार को उनके अनुभव की जरूरत पड़ेगी। संसार धन, प्रतिष्ठा और जो भी वैज्ञानिक तकनीकी ने पैदा किया है उस सबसे ऊब रहा है। ये सब निर्मूल्य हो गए हैं।

मनुष्य की आंतरिक खोज की प्रयोगशाला के रूप में तिब्बत को छोड़ दिया जाना चाहिए। लेकिन संसार के एक देश ने भी तिब्बत पर इस घृणित आक्रमण के विरूद्ध आवाज नहीं उठाई है। और चीन ने न केवल इस पर आक्रमण किया, बल्कि उसका विलय कर लिया है अपने नक्शे में। अब चीन के नए नक्शे में तिब्बत उनका भू-भाग है।

और हम सोचते हैं कि यह दुनिया सभ्य है, जहां निर्दोष लोग, जो किसी की हानि नहीं कर रहे हैं सहज ही नष्ट किए जाते हैं। और उनके साथ ही संपूर्ण मनुष्यता का कुछ अत्यंत महत्वपूर्ण भी नष्ट हो जाता है। यदि मनुष्य में कुछ भी सभ्य होता तो हर राष्ट्र चीन द्वारा तिब्बत पर किए गए आक्रमण के विरूद्ध खड़ा हो जाता। यह चेतना पर पदार्थ का आक्रमण है। यह अध्यात्म की ऊंचाइयों पर भौतिकवाद का आक्रमण है। तिब्बती मंत्र 'ॐ मणि पद्मे हुम्' संपूर्ण आंतरिक तीर्थयात्रा का सारभूत रूप है। यह बताता है कि प्रारंभ कैसे करना, फूल जब खिलेगा तो क्या होगा, अपने आंतरिक खजाने का तुम्हारा चरम अनुभव क्या होगा।

भारत की चीन नीति कैसी हो?

-टी. एन. कौल

चीन के साथ पंचशील समझौता करते समय पं. नेहरू ने सोच समझकर खतरा मोल लिया था। इस समझौते को लेकर वह कतई भ्रम में नहीं थे बल्कि काफी आशावान थे। एक बार उन्होंने मुझसे इस संबंध में एक बात कही थी कि "जब चीन कमजोर और विभाजित था तब ब्रिटेन सीधे-सीधे हमारी उत्तर पूर्वी सीमाओं तथा तिब्बत की उपेक्षा कर सकता था। किंतु मैं नहीं जानता कि एक मजबूत और जागृत चीन भविष्य में क्या करवट लेगा। चीन हमेशा विस्तारवादी रहा है। इसके बावजूद हमें उसके साथ मैत्रीपूर्ण संबंध कायम करना चाहिए।"

श्री नेहरू ने मुझे बताया था कि "अमेरिका इस समय चीन विरोधी नीति अपना रहा है और वस्तुत: चीन विश्व बिरादरी में एकदम अलग-थलग पड़ गया है। अत: यदि एशिया के ये दो बड़े राष्ट्र चीन और भारत, मित्र बन जाएं तो इस क्षेत्र में शांति एवं स्थिरता की स्थापना में मदद मिल सकती है।" इस सबके बावजूद श्री नेहरू चीन के विस्तारवादी इरादों से अवगत थे। ■

भारत, तिब्बत और चीन : भारतीय नेताओं के विचार

तिब्बत पर चीन की प्रभुसत्ता मानना भारत की भूल थी

अटल बिहारी वाजपेयी

तिब्बत पर चीन के कब्जे के बाद 8 मई 1959 को लोकसभा में बहस के दौरान अटल बिहारी वाजपेयी का वक्तव्य

जब से चीन में कम्यूनिस्ट शासन आया, च्यांग-कोई-शेक के साथ बड़े मैत्रीपूर्ण संबंध होते हुए भी भारत ने नए चीन का स्वागत किया और संसार के राष्ट्रों में उसे सम्मान का स्थान मिले इसके लिए हमने उनसे बढ़कर प्रयत्न किया। हमारे प्रयत्नों को देखकर कभी-कभी ऐसा लगा कि मुद्दई सुस्त हैं और गवाह चुस्त है। हमने चीन की वकालत की क्योंकि हम समझते थे कि कम्यूनिज्म से हमारा मतभेद होते हुए भी यदि चीन की जनता उस मार्ग का अवलंबन करती है तो यह उसकी चिंता का विषय है, और भिन्न -भिन्न जीवन पद्धतियों के होते हुए भी भारत और चीन मित्रता से रह सकते हैं।

लेकिन मित्रता को पहला आघात उस दिन लगा जब तिब्बत को चीन की सेनाओं ने 'मुक्त' किया। हमारे प्रधानमंत्री ने उस समय पूछा था कि तिब्बत को किससे मुक्त किया जा रहा है। तिब्बत किसी देश का गुलाम नहीं था। भारत तिब्बत का निकटतम पड़ोसी है। अतीत में अगर हम चाहते तो तिब्बत को अपने साथ मिलाने का प्रयत्न कर सकते थे, लेकिन आज जो चीन के नेता भारत पर विस्तारवादी होने का आरोप लगाते हैं, वे यह भूल जाते हैं कि हमने कभी भी तिब्बत को अपने साथ मिलाने का प्रयत्न नहीं किया। तिब्बत छोटा है। लेकिन हमने उसके पृथक अस्तित्व का समादर किया। हमने तिब्बत की स्वतंत्रता का सम्मान किया, और हम आशा करते थे कि चीन भी ऐसा ही करेगा लेकिन कम्यूनिस्टों के तरीके अलग होते हैं। उनके शब्दों की परिभाषाएं अलग होती हैं। जब वह गुलाम बनाना चाहते हैं तो कहते हैं कि हम मुक्त करने जा रहे हैं, आज जब वह दमन कर रहे हैं तो कहते हैं कि सुधार करने जा रहे हैं। अगर कहीं सुधार करना है तो जिन्हें सुधारना है उनमें सुधार की प्रवृत्ति पैदा की होनी चाहिए। सुधार ऊपर से नहीं लादा जा सकता।

लेकिन तिब्बत में जो कुछ हो रहा है वह सुधार नहीं है। 1950 के समझौते के अंतर्गत तिब्बत की स्वायत्तता का चीन द्वारा समादर किया जाना चाहिए था, लेकिन चीन ने तिब्बत के अंदरूनी मामलों में दखल दिया, चीन से लाखों की संख्या में चीनी तिब्बत में ला कर बसाए गए जिससे तिब्बतवासी अपने ही देश में अल्पसंख्यक हो जाएं और आगे जाकर तिब्बत चीन का अभिन्न अंग बन जाए। तिब्बत से हजारों नौजवानों को चीन में भेजा गया, नए राजनीतिक मजहब की शिक्षा प्राप्त करने के लिए, लेकिन जब वह लौटकर आए और चीनी नेताओं ने देखा कि उन पर असर नहीं हो रहा है, और उनका तिब्बती रंग नहीं मिटाया जा सकता, उनकी पृथकता कायम रहती है और अपनी जीवन-पद्धति की रक्षा करने का उनका उत्साह अमिट रहता है, तो उनके कान खड़े हुए और अपनी जीवन-पद्धति को मिटाने का प्रयत्न किया। वर्तमान संघर्ष एक बड़े राष्ट्र द्वारा एक छोटे राष्ट्र को निगलने की इच्छा के कारण उत्पन्न हुआ है।

मेरा निवेदन है कि हमने जब तिब्बत पर चीन की प्रभुसत्ता स्वीकार की तो हमने बड़ी गलती की। वह दिन बड़े दुर्भाग्य का दिन था। लेकिन गलती हो गई और हम शायद यह समझते थे कि यह मामला हल हो जाएगा, नया संघर्ष पैदा नहीं होगा, और हम दूसरों को मौका नहीं देना चाहते थे कि वे हमारे और चीन के मतभेदों का लाभ उठाएं। लेकिन परिणाम क्या हुआ? चीन ने केवल तिब्बत के ही साथ हुए समझौते को नहीं तोड़ा, बल्कि उस समझौते की पृष्ठभूमि में भारत के साथ जो समझौता हुआ था, उसका भी उल्लंघन किया। पंचशील की घोषणा कहां गई? जो पंचशील के दावे करते हैं उनका कहना है कि पंचशील के अंतर्गत लोकतंत्र और अधिनायकवाद साथ-साथ जीवित रह सकते हैं। अगर कम्युनिस्ट साम्राज्य के अंतर्गत तिब्बत के धर्मप्रिय और शांतिप्रिय लोग अपनी विशिष्ट जीवन-पद्धति की रक्षा नहीं कर सकते, तो यह कहना कि इतने बड़े संसार में कम्युनिज्म और डेमोक्रेसी साथ-साथ रह सकते हैं, इसका कोई अर्थ नहीं होता। हम चीन के अंदरूनी मामलों में दखल नहीं देना चाहते मगर तिब्बत चीन का अंदरूनी मामला नहीं है। चीन बंधा है तिब्बत की स्वायत्तता का समादर करने के लिए। लेकिन यह समझौता टूट गया और मैं समझता हूं कि अब भारत को भी अपनी स्थिति पर पुनर्विचार करना चाहिए। समझौते दोनों तरफ से चलते हैं। अगर चीन ने समझौता तोड़ दिया, तो हमें अधिकार है कि हम अपनी परिस्थिति पर फिर से विचार करें। क्या कारण है

कि तिब्बत को उसकी स्वतंत्रता से वंचित किया जा रहा है?

तिब्बत क्यों स्वतंत्र नहीं रह सकता? कहते हैं कि पहले स्वतंत्र नहीं था, तो क्या जो देश पहले स्वतंत्र नहीं था, उसको स्वतंत्र होने का अधिकार नहीं हो सकता? क्या जहां पहले गुलामी थी, वहां अब भी गुलामी रहनी चाहिए? अगर अल्जीरिया की स्वतंत्रता की आवाज का हम समर्थन कर सकते हैं, और वह समर्थन करना फ्रांस के अंदरूनी मामलों में दखल देना नहीं है, तो तिब्बत की स्वतंत्रता का समर्थन चीन के अंदरूनी मामलों में दखल कैसे हो सकता है? अभी मेरे मित्र श्री खडिलकर ने कहा कि देश में कोई भी ऐसी पार्टी नहीं है, जो तिब्बत की स्वतंत्रता का समर्थन करती है। मैं उनसे अपना मतभेद प्रकट करना चाहता हूं। हमारी पार्टी तिब्बत की हिमायत करती है। तिब्बत की आजादी की आवाज कितने लोग उठाते हैं, इससे यह आवाज सही है या गलत, इसका निर्णय नहीं हो सकता। चीनी साम्राज्यवादी अपने पशुबल के द्वारा तिब्बत की स्वतंत्रता की आवाज को आज दबा सकते हैं, मगर स्वतंत्रता की पिपासा को मिटाया नहीं जा सकता। दमन उस आंदोलन में आग में घी का काम करेगा और तिब्बत की जनता अपनी स्वतंत्रता को प्राप्त करके रहेगी।

मगर प्रश्न यह है कि हम उसके लिए क्या कर सकते हैं? मैंने निवेदन किया कि हमने 1950 में गलती की। अब हमें उसका दंड भुगतना पड़ रहा है। लेकिन समय है प्रायश्चित करने का, गलती को पहचानने का। मैं प्रधानमंत्री जी से इस बात की आशा करता हूं कि वह इस अवसर पर देश की करोड़ों जनता का सही प्रतिनिधित्व करेंगे। मुट्ठी भर हमारे मित्रों को छोड़कर सारा भारत इस प्रश्न पर एकमत है कि तिब्बत में जो कुछ हो रहा है, वह नहीं होना चाहिए। लेकिन क्या यह संभव है कि तिब्बत चीनी राज्य के अंतर्गत अपनी स्वायत्ता का उपभोग कर सके? मुझे तो लगता है कि कम्युनिस्ट पद्धति और स्वायत्ता दोनों परस्पर विरोधी बातें हैं। माओत्से तुंग ने 1930 में कहा था कि हमने ऐसा संविधान बनाया है कि अगर कोई हमसे बाहर जाना चाहेगा, तो बाहर जा सकेगा। तिब्बती तो बाहर जाने की बात नहीं करते थे। वे तो अपना पृथक अस्तित्व बनाए रखना चाहते थे, मगर उन्हें इसकी भी इजाजत नहीं दी गई।

उन्होंने यह भी कहा कि हम ऐसे फूल को खिलता हुआ देखना चाहते हैं, जिसमें हजारों पंखुड़ियां होंगी। हजारों की तो बात अलग रही, तिब्बत की कोमल कली को भी कुचला जा रहा है। हमने जहां चीन को राष्ट्र संघ में स्थान देने की वकालत की थी, वहीं हम तिब्बत को भी स्थान देने की वकालत कर सकते थे। यूक्रेन सोवियत संघ का अंग है, मगर वह संयुक्त राष्ट्र संघ में अलग स्थान पर बैठा है। तो क्या तिब्बत चीन के साथ होते हुए भी संयुक्त राष्ट्र संघ में अलग स्थान नहीं भर सकता था? मगर हमने चीन की मित्रता के लिए ऐसा नहीं किया। हमें उस मित्रता का क्या प्रतिदान मिला?

हम मित्रता आज भी चाहते हैं, मगर उस मित्रता का महल तिब्बत की आजादी की लाश पर नहीं खड़ा किया जा सकता। अन्याय को देखकर हम आंखें बंद नहीं कर सकते। यह भारत की परंपरा रही है और इसी परंपरा में हमारे प्रधानमंत्री ने देश की विदेश नीति का संचालन किया है कि जहां कहीं अन्याय होगा, मानवता का हनन होगा, अत्याचार होगा, हम अपनी आवाज उठाएंगे, हम सत्य की भाषा को बोलेंगे और निर्भीक होकर हम पददलित होने वाले के अधिकारों का संरक्षण करेंगे। आज तिब्बत कसौटी है नेहरू जी की नीतिमत्ता की, तिब्बत कसौटी है भारत सरकार की दृढ़ता की, तिब्बत कसौटी है चीन की पंचशीलप्रियता की। पंचशील की घोषणाएं करने से, पंचशील की जो भावना है, उसका आदर नहीं होगा। पंचशील की कसौटी आचरण है। हमारे प्रधानमंत्री कितना भी संयम से काम लें, लेकिन अगर उससे तिब्बत की समस्या हल नहीं होती, तो हमें मानना पड़ेगा कि उस नीति में थोड़ी-सी दृढ़ता, थोड़ी-सी सक्रियता लाने की आवश्यकता है।

दलाई लामा तिब्बत में रहें या जाएं, यह कोई बड़ा सवाल नहीं है। यह तो तिब्बती आपस में तय करेंगे। लेकिन तिब्बत एक कसौटी है बड़े राष्ट्र द्वारा छोटे राष्ट्र को निगलने की। जहां तक भारत का सवाल है, हम पर तो चीन की शनि-दृष्टि दिखाई देती है। चीन के नक्शों में हमारा प्रदेश उनका बताया गया है। चीन के कम्युनिस्टों ने च्यांग-काई-शेक को तो निकाल दिया, मगर उनके नक्शों को रख लिया। अगर वे चाहते तो नक्शों को भी निकाल सकते थे। और हमारे कम्युनिस्ट दोस्तों ने तो वह नक्शे देखे ही नहीं हैं। मुझे उनकी बात पर विश्वास नहीं होता। लेकिन यह चीन का अप्रत्यक्ष आक्रमण है भारत के लिए। उत्तर प्रदेश के दो स्थानों पर चीनी कब्जा जमा कर बैठे हैं। ये घटनाएं आने वाले संकट की ओर संकेत करती हैं। हमें आंतरिक होने की आवश्यकता नहीं है, मगर हमें दृढ़ नीति अपनानी चाहिए। दलाई लामा अगर चीन के साथ समझौता करने में सफल हों, और हमारे प्रधानमंत्री इस संबंध में कोई मध्यस्थता कर सकें तो इससे बढ़कर देश की जनता को कोई और आनंद नहीं होगा। लेकिन अगर चीन के नेताओं को सीधी राह पर नहीं लाया जा सकता, राजनीतिक या कूटनीतिक दबाव से उन्हें नहीं समझाया जा सकता और बर्मा, लंका और इंडोनेशिया के जनमत को जागृत करके, संगठित करके, प्रभावी रूप से उसका प्रकटीकरण करके, अगर चीन पर असर नहीं डाला जा सकता, तो भारत के सामने इसके सिवा कोई विकल्प नहीं रहेगा कि हम दलाई लामा को छूट दे दें कि वह अपने देश की आजादी के लिए प्रयत्न करें।

भारत के नौजवान तिब्बत की स्वतंत्रता को अमूल्य समझते हैं-इसलिए नहीं कि तिब्बत के साथ उनके घनिष्ठ संबंध हैं, अपितु इसलिए कि हम गुलामी में रह चुके हैं, हम गुलामी का दुख और दर्द जानते हैं, हम आजादी की कीमत जानते हैं- उन्हें कार्य करने की स्वतंत्रता दी जाए। तिब्बत की जनता अगर आजादी के लिए संघर्ष करती है तो भारत की जनता उसके साथ होगी। हम अपनी सहानुभूति उनको देंगे और हम चीन से भी आशा करें कि वह साम्राज्यवाद की बातें न करे। साम्राज्यवाद के दिन लद गए। किंतु यह नया साम्राज्यवाद है। इसका खतरा यह है कि यह एक क्रांति के आवरण में आता है, यह इंकलाब की पोशाक पहन कर आता है, यह नई व्यवस्था का नारा लगाता हुआ आता है, मगर यह पीलों का साम्राज्यवाद भी प्रकट हो रहा है विश्व की छत पर। हमें दृढ़ता के साथ उसका भी मुकाबला करना होगा।

''पंडित दीनदयाल उपाध्याय के विषय में जानकारियाँ बहुत ही सीमित हैं। डॉ. महेशचंद्र शर्मा ने इस विषय पर गवेषणात्मक अध्ययन किया है। इस शोध-ग्रंथ का प्रकाशन न केवल जनसंघ की राजनीति व विचारधारा के प्रति लोगों को लाभदायक जानकारियाँ देगा वरन् राजनीति शास्त्र की वैचारिक बहस को भी आगे बढ़ाएगा। दीनदयाल उपाध्याय व भारतीय जनसंघ को समझने के लिए यह शोध-ग्रंथ प्रामाणिक आधारभूमि प्रदान करता है।''

—डॉ. इकबाल नारायण

पूर्व कुलपति-राजस्थान विश्वविद्यालय,
काशी हिंदू विश्वविद्यालय तथा नॉर्थ-ईस्ट हिल्ज यूनिवर्सिटी,
पूर्व सदस्य-सचिव, भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद्

''यदि मुझे दो दीनदयाल मिल जाएँ, तो मैं भारतीय राजनीति का नक्शा बदल दूँ।''

—डॉ. श्यामा प्रसाद मुकर्जी

पं. दीनदयाल उपाध्याय द्वारा लिखित पुस्तकें

प्रभात प्रकाशन
ISO 9001 : 2008 प्रकाशक
www.prabhatbooks.com

ISBN 978-93-5186-262-8
9 789351 862628
₹ 500/-

पं. दीनदयाल उपाध्याय
कर्तृत्व एवं विचार

डॉ. महेशचंद्र शर्मा

पं. दीनदयाल उपाध्याय
कर्तृत्व एवं विचार
डॉ. महेशचंद्र शर्मा

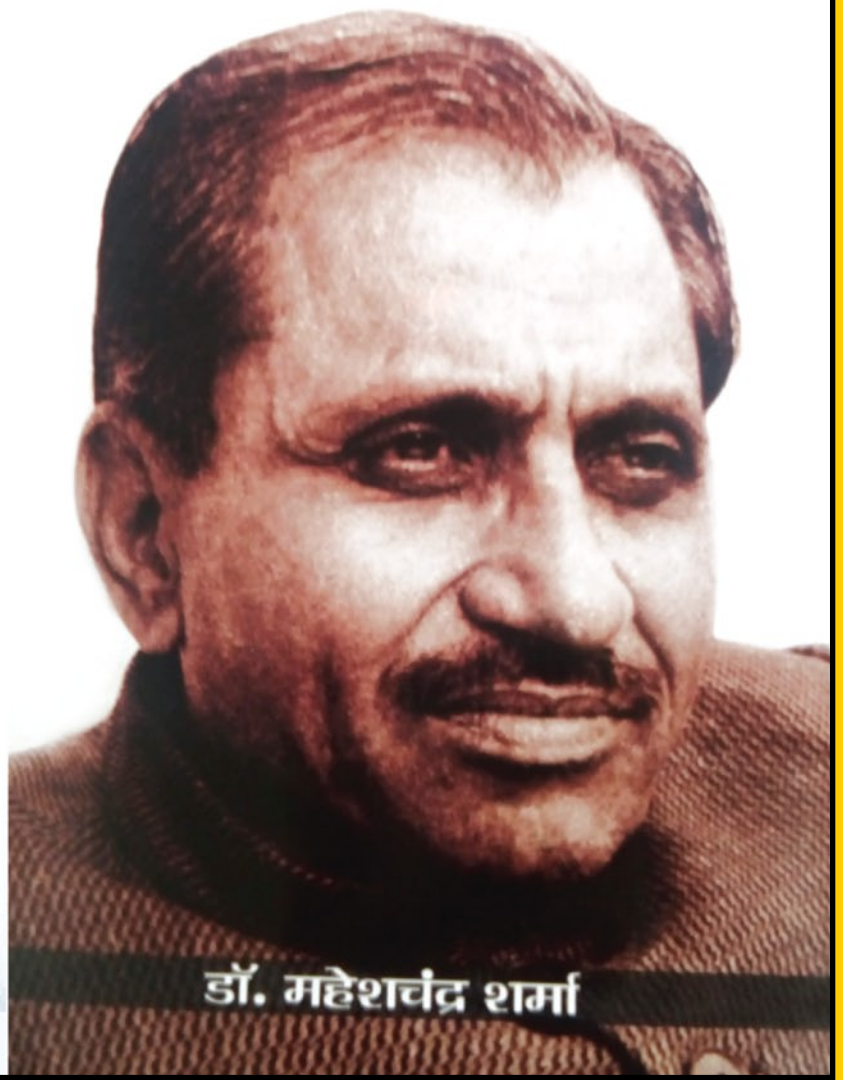

मंथन

सामाजिक व अकादमिक सक्रियता का उपक्रम

'मंथन' की सदस्यता लें

एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान से प्रकाशित शोध त्रैमासिक पत्रिका 'मंथन' की सदस्यता लें। भारत–विचार–दर्शन पर केंद्रित इस पत्रिका की सदस्यता के लिए व्यक्ति/संस्थान कृपया निम्न पते पर सूचित करें और शुल्क एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान के नाम से स्टेट बैंक ऑफ इंडिया, नई दिल्ली, एकाउंट नं. 10080533188, आईएफएससी–एसबीआईएन0006199 में जमा करें।

सदस्यता विवरण

नामः .....

पताः .....

..... राज्यः ..... पिनकोड : .....

लैंड लाइनः ..... मोबाइलः (1)..... (2).....

ई मेलः .....

जन–मार्च 2019 से पुनर्निधारित मूल्य

	भारत में	विदेश में
एक प्रति	₹ 200	US$ 9
वार्षिक	₹ 800	US$ 36
त्रिवार्षिक	₹ 2000	US$ 100
आजीवन	₹ 25,000	

प्रंबध संपादक

'मंथन' त्रैमासिक पत्रिका

28, मीना बाग, मौलाना आजाद रोड., नई दिल्ली–110 011

दूरभाषः 9868550000, 011–23062611

ई–मेलः manthanmagzin@gmail.com, ekatmrdfih@gmail.com

Govt. of Haryana

Haryana
Towards Good Governance

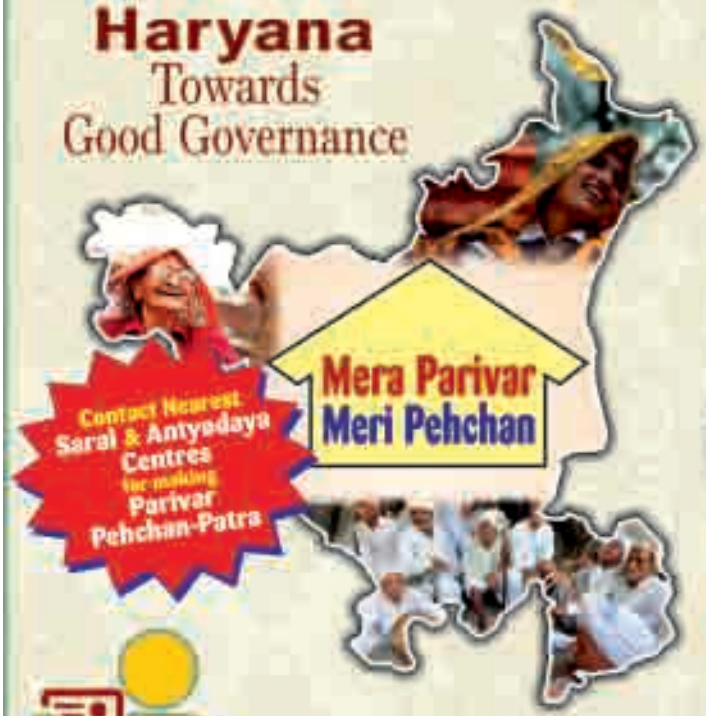

PARIVAR PEHCHAN-PATRA

- Parivar Pehchan-Patra to empower families.
- Complete information related to government schemes to needy families at doorstep.
- Scheme benefits to eligible beneficiaries when they come of age.
- After marriage, girl's name will be registered in the in-laws' Parivar Pehchan-Patra and cancelled from Paternal Parivar Pehchan-Patra.
- Corruption will be checked and scope of duplicacy will be reduced.

Portal **PARIVAR PEHCHAN-PATRA Portal**
https://meraparivar.haryana.gov.in

Strengthened State Empowered Families

Regd. R.No. 32486/78 (Hindi)

प्रभात प्रकाशन

नवनूतन प्रकाशन की गौरवशाली परंपरा

दीनदयाल उपाध्याय
संपूर्ण वाङ्मय (पंद्रह खंडों का सैट)

9 अक्तूबर, 2016 को नई दिल्ली के विज्ञान भवन में पं. दीनदयाल उपाध्याय जन्म शताब्दी वर्ष के अवसर पर डॉ. महेश चंद्र शर्मा द्वारा संपादित एवं प्रभात प्रकाशन द्वारा प्रकाशित 'दीनदयाल उपाध्याय संपूर्ण वाङ्मय' के पंद्रह खंडों का लोकार्पण भारत के प्रधानमंत्री मान. श्री नरेंद्र मोदी, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरकार्यवाह मान. श्री सुरेश (भय्याजी) जोशी व भारतीय जनता पार्टी के राष्ट्रीय अध्यक्ष मान. श्री अमित शाह के करकमलों द्वारा संपन्न हुआ।

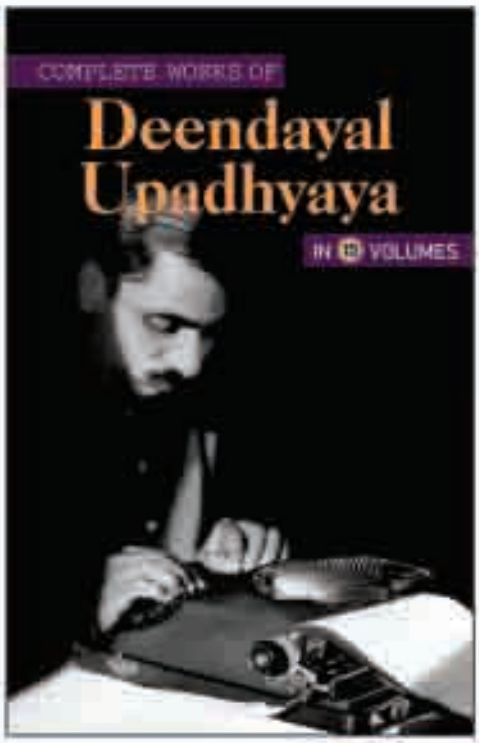

COMPLETE WORKS OF
DEENDAYAL UPADHYAYA
(Set of 15 Volumes)

11 फरवरी, 2019 को भारत के राष्ट्रपति मान. श्री राम नाथ कोविंदजी को 'Complete Works of Deendayal Upadhyaya' की प्रथम प्रति भेंट करते हुए प्रधान संपादक डॉ. महेश चंद्र शर्मा

प्रभात प्रकाशन
ISO 9001:2015 प्रकाशक
4/19 आसफ अली रोड, नई दिल्ली-110002
हेल्पलाइन नं. 7827007777 ☎ 011-23289777
E-mail : prabhatbooks@gmail.com ✦ Website : www.prabhatbooks.com

एकात्म मानवदर्शन
अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान
28 मौना बाग, नई दिल्ली-110001
☎ 011-23062611
ई मेल : ekatmdrsh@gmail.com